विषय अवतरणिका ।

प्रथमोऽध्यायः —

विदुरजी का युक्ति पूर्वक सामयिक उपदेश देकर धृतराष्ट्रको पण्डित और मूर्खों के लक्षण बताना और पाण्डवों को राज्य दिलाने की सम्मति देना।

द्वितीयोऽध्यायः —

धृतराष्ट्र को कर्त्तव्याकर्त्तव्य का उद्बोधन कराना राज धर्म के स्वरूप, ज्ञान पूर्वक युधिष्ठिर की योग्यता कह कर कौरवों से उन्हें राज्य-भार देने में उनकी महत्ता वर्णन करना।

तृतीयोऽध्यायः —

युधिष्ठिर के प्रति कौरवों के कोमल व्यवहार करने की श्रेष्ठता कहते हुए केशनी विरोचन और सुधन्वा के सम्वाद का वर्णन करना और पृथ्वी के लिये झूठ बोलने का उपदेश एवं मनुष्य जीवन का कर्त्तव्योपदेश।

चतुर्थोऽध्यायः -

दत्तात्रेय और साध्यो के सम्वाद द्वारा तीन प्रकार के मनुष्यों और उत्तम कुलों की पहिचान एवं कर्त्तव्य समझ कर परस्पर प्रीति पूर्वक रहते हुए शत्रुओं को लाभ का अवसर न देना और दुर्योधन की प्रवृत्ति सुधारने का उपदेश करना।

पञ्चमोऽध्यायः—

वृथा कर्त्तव्य करने वालों का स बतला कर धर्मनीति और यथो व्यवहार का विवरण करते हुये और बन की उपमा से पाण्डव कौरवों का परस्पर का मेल हित कर बतलाना।

षष्ठोऽध्यायः—

कूट नीति किसे कहते हैं एवं विविध मन्त्रणाओं से दुर्योध सर्वथा राज्य के अयोग्य प्रमे करना और कहना कि दुर अवश्य राज्य से गिरेगा।

सप्तमोऽध्यायः—

राजनीति के उपदेश से जीवन बनाने की क्रिया बतलाना और राष्ट्रसे कहना कि अपने पुत्रोंके पांडवों से भी समानता, वहं आचरण करना चाहि।

अष्टमोऽध्यायः—

चारों वर्णों के कृत्य, कर्मों धर्म की मार्मिक बातें बतला विभिन्न उपदेश देहुये युधिष्ठिर योग्य अधिकार देका परामर्श दे परन्तु अन्तमें धृतराष्ट्र का यह स कुछ दैवाधीनहै कह कर अप विशेषता प्रकट करा।



एक बार सन् १९३२ ई० में, मैं अपनी जन्म-भूमि लखना, जिला इटावा को गया। वहाँ पुरानी पुस्तकों की खोज करते हुए मुझे मेरे बाल्य-कालके मित्र श्री० पं० मिश्रीलाल जी दीक्षित हैडमास्टर,जैतपुर स्कूल (इटावा) के पास यशस्वी कवि श्री बिहारीदास जी के पुत्र श्रीकृष्ण कवि की बनाई हुई विदुर-प्रजागर की छन्दोबद्ध लिपि मिली. यह लिपि उन्होंने मेरे बड़े आग्रह करने पर दिखलाई, कि जिसका मैं आभारी हूं। सतसईकार बिहारी के पुत्र कृष्ण ने इस विदुर-नीति पर दोहे रचे हैं। उन्होंने स्वयं पुस्तक रचना का कारण यह लिखा है, (यह पुस्तक अब तक अप्रकाशित है) कि:—

"राजा आया मल्ल की, आज्ञा अति हितु जान।
विदुर प्रजागर कृष्ण कवि, भाषा कह्यो बखान॥
सत्रह सै अरु बानवे, सम्वत कार्तिक मास।
शुक्ल पक्ष पाँचै गुरू, कीनो ग्रन्थ प्रकास।,"

मेरे चित्त में बड़ी उत्कण्ठा थी, कि यह पुस्तक प्रकाशित की जावे, परन्तु एक तो उक्त महाशय ने पुस्तक की लिपि नहीं दी, दूसरे लिपि करने का समयाभाव दोनों विषम कारण उपस्थित थे। विदुर नीति का अब केवल भाषानुवाद मनुष्यों के कल्याण के लिये ही प्रकाशित किया जा रहा है। भारतवर्ष में बृहस्पति-नीति, चाणक्य नीति, धौम्य-नीति, कामन्द की नीति,

कामन्द की नीति सार, पञ्चतन्त्र, शुक-नीति, कणिक-नीति आदि २ अनेक नीति विद्या के ग्रन्थ उपलब्ध होते हुए भी अपनी नीति के आश्रित जनपदों के जीवन न रहने से उन्हें बड़ी २ विषम समस्याओं का सुलझाना कठिन हो गया है। इसका खेद है, विदुर-नीति उस समय की है, कि जब से आर्य-संस्कृति के पतन का सूत्रपात हुआ है। इसलिये हमको इससे लाभ उठाना चाहिये और अपना जीवन एक नैतिक जीवन बनाना चाहियें।

प्राज्ञस्य मूर्खस्य चकर्म योगे, समत्व मभ्येति तनुर्नबुद्धिः ॥

ज्ञानी और मूर्खों के शरीर कर्म करने में तो एक से होते हैं, परन्तु केवल बुद्धि में भिन्नता होती है। यह विशेष बुद्धि नीति ग्रन्थों के पढ़ने से ही प्राप्त होती है, वह बुद्धि शुक्र नीति अनुसार यदि प्राप्त हो सकती है, तो—

सर्वलोक व्यवहार स्थितिर्नीत्या विना नहिं।
यथा शनैर्विनी देहस्थितिर्न स्याद्धि देहिनाम् ॥

बिना नीति के लोक व्यवहार नहीं सध सकते, जैसे बिना भोजन के शरीर नहीं रह सकता। अतः हमको नीति ग्रन्थों के स्वाध्याय में कभी भी प्रमाद न करना चाहिये। यही हमारी नीति-बुद्धि वर्द्धक है। कुसमय पर सच्चे मित्र के समान परामर्श देती है और दुःखों से पार कर देती है।

शारदी पूर्णिमा सं० १९९२
राजा मन्डी, आगरा

विद्वानों का अनुग्राह्य—
गोकुलचन्द दीक्षित "चन्द्र"



विदुर चरित्र



पांच हज़ार वर्ष से अधिक हुये कि भारतीय स्वतंत्रता का सूर्य मध्याह्न तक तप के शनैः अस्ताचल की ओर जाने लगा। इस परिवर्त्तन के युग में भी चक्रवर्ती सारभौम राज्य आर्यों का ही था। इन आर्य पुरुषों के प्रसिद्ध वंश कुरु और पाण्डु वंशी कौरव और पाण्ड्य कहलाते थे। भाग्य चक्र के रूठने का कलंक इन्हीं दोनों के समय में इस आर्य कुल को परस्पर के कलह से लगा था। यहां पर हम केवल महात्मा विदुर जैसे नीतज्ञ के जीवन का चरित्र चित्रण करने का उद्योग करेंगे, कि जिसका विषय से सम्बन्ध है।

एक दिन व्यास जी की माता सत्यवती ने अपने कुल परम्परा के अनुसार "एष धर्मः सनातनः" कहती हुई भीष्म को यह आदेश दिया, कि तुम्हारा भाई विचित्र वीर्य निस्सन्तान मर गया है।मैं आज्ञा देती हूँ, कि अम्बिका अम्बालिका से नियोग (आज्ञा) द्वारा सन्तान उत्पन्न कर कुल को क्षय दोष से बचाओ! भीष्म ने प्रतिज्ञा पूर्वक ऐसा करने से मना कर दिया। सत्यवती ने बड़े २ प्रमाण दिये,परन्तु परम दृढ़ प्रतिज्ञ भीष्म पर यह वचन क्या प्रभाव डाल सकते थे। निदान सत्यवती ने अपने पुत्र वेद व्यास से कि जिसका सम्बन्ध विचित्र वीर्य से भाई चारे का भी था, उसको नियोग-नियुक्ति में अनमति लेकर

प्रस्तावना थी, भीष्म देशकाल अवस्था से पूर्ण परिचित थे, उन्होंने प्रस्ताव मान लिया। सत्यवतीने व्यास को बुला कर समझाया। अन्ततोगत्वा व्यासजी ने माता की आज्ञा से अपने शरीर में घृत लगाकर नियोग का आयोजन किया। व्यास का नाम कृष्ण द्वैपायन भी था। वह बड़े तेजस्वी और काले डरावने थे, नियोग की रात्रि में जब अम्बिका और अम्बालिका आपत्ति धर्म की रक्षा के कारण व्यास के समागम में गईं तो डर गईं और अम्बिका ने अपने नेत्र मूँद लिये, अम्बालिका सहम कर पीली पड़ गई। गर्भाधान में इस करतूत का यह प्रभाव पड़ा, कि एक अन्धा और एक पीला पुत्र हुआ। दोनों के क्रमशः धृतराष्ट्र और पाण्डु नाम रक्खे गये। इन सन्तानों में कमी देख कर सत्यवती ने फिर अम्बिका को पुनः नियुक्त किया, परन्तु उसने छल किया और अपने स्थान में एक दासी को भेज दिया। निदान यही सन्तान व्यास जी के वीर्य विदुर नाम से हुई थी।

विदुर जी धर्म-नीति शास्त्र में बड़े पारंगत हुये, परन्तु दासी पुत्र होने से राज्याधिकारी न हो सके। इन दिनों सत्यवती के हाथों राज की बागडोर थी। जब राजकुमारों के बिवाह किये गये तो हमारे चरित्र नायक श्री विदुर जी का भी विवाह राजा देवक की सुलक्षणी कन्या पारसवी के साथ रचाया गया। महा प्राज्ञ विदुर जी का बड़ा सम्मान और प्रतिष्ठा थी। आप म्लेच्छ भाषा के भी पारंगत विद्वान् थे। इसका परिचय उस समय मिला था, कि जब श्री युधिष्ठिर जी ने वारणावत को प्रस्थान किया तो विदुर जी ने उन्हें म्लेच्छ भाषा में उपदेश दिया था। विदुर जी की नीतज्ञता की छाप तो थी ही; उन्हें कठिन से कठिन कामों पर लगा दिया जाता था। वारणावत में लाक्षागृह में जब

पाण्डव रह रहे थे तो विदुरजी के भेजे हुए विश्वासपात्र मनुष्यों से सुरंग बनवाई गई थी और इसीसे निकल कर उन्होंने अपने प्राण बचाये थे। विदुरजी सदैव पाण्डवों की सहायता पर रहे। जब सुरंग से पाण्डव बाहर आये तो विदुरजी ने ही गङ्गापार करने के लिये रातों रात नौकाओं को भेजा था और उन्हें पार उतरवा दिया और प्राण बचाये थे। धीरे २ जब पाण्डवों के जीवित रहने की चर्चा फैली तो विदुर ने धृतराष्ट्र से सब समाचार कहा था। इधर जब पाण्डवों ने पांचाल-क्षत्रियोंसे सम्बन्ध कर लिया तो दुर्योधन और कर्ण की मंत्रणा से धृतराष्ट्र ने द्रोणाचार्य और विदुर ने परामर्श किया। विदुरजी ने धृतराष्ट्र से पांडवों के लौटाने के लिये कहा और विदुर को पांडवों को लेने भी भेजा। महाप्राज्ञ विदुरने श्री कृष्णचन्द्र जी के सहयोग से पांडवों को हस्तिनापुर ले आये और इन्द्रप्रस्थ का आधा राज्य भी दिलाया तब कौरव पांडवों ने जूआ खेला तो इन्हीं विदुरजी को बुलाने के लिये भेजना चाहा, परन्तु परम नीतज्ञ विदुरजी ने निषेध किया, परन्तु धृतराष्ट्र के बल पूर्वक कहने पर विदुर जी इन्द्र प्रस्थ गये, वहाँ युधिष्ठिर तथा विदुरजी में बड़ा संलाप हुआ। युधिष्ठिर ने द्यूत में भाग लेने से मना भी किया और विदुरजी ने भी जुये को बुरा बतलाया, परन्तु राज्याज्ञा शिरोधार्य मान कर फिर भी युधिष्ठिर को प्रेरित किया गया. जब युधिष्ठिर लगातार हारे तो उन्होंने धृतराष्ट्र से दुर्योधन की निन्दा की और खेलने को बन्द करा देना चाहा, विदुरजी की और दुर्योधन में खूब कहा सुनी भी होगई, परन्तु "होनहार बलवान" जूआ होता ही गया। द्रौपदी के हारने पर विदुरजी ने फिर अनर्थ सम्भावना से हस्त-क्षेप किया, परन्तु होना ऐसा ही था, विदुर सफल प्रयत्न नहीं हुए।

निदान जब अज्ञात वास के लिये पाण्डव चले; धृतराष्ट्र से विदुर की मंत्रणा हुई और विदुर ने चाहा, कि फिर राज्य पर पाण्डवों को लाया जावे, परंतु इनका बड़ा अपमान किया गया। अन्त में विदुर पाण्डवों की ओर होगये। जब विदुरजी कामा (काम्यक) बन में पहुंचे तो युधिष्ठिर ने आने का कारण पूछा, इधर धृतराष्ट्र को विदुर के चले जाने का बड़ा दुःख हुआ और सञ्जयको भेजा, कि लौटालावें और वह फिरलौट भी आये। निदान यह कलह बढ़ता ही गया, जब अनर्थ बढ़ा तो श्रीकृष्णचंद्रजी के उद्योग से दूत भेजा गया, कि युद्ध न किया जावे और पांडवों का अपना विजित राज्य लौटा दिया जावे, परन्तु वे असफल हुये और निजकी सहायता मांगने पर अर्जुन और दुर्योधन दोनों को सहायता देने का वचन बद्ध होना पड़ा, युद्ध आरम्भ हो जाने पर एक दिन रात्रि को धृतराष्ट्र ने विदुरजी को बुलाया और विदुर से परामर्श किया। इसी रात्रि को जो नीति-कथन की गई यह "विदुर प्रजागर" नीति कहलाती है।

श्रीकृष्णचन्द्रजी की विदुर की गाढ़ी मैत्री थी, एकवार विदुर पत्नी श्रीकृष्णचन्द्र का स्वागत करते हुए इतनी प्रेम में विह्वल होगई थी, कि उन्हें यह ज्ञान नहीं रहा, कि केले जो छील २ कर खिला रही हूं, वह अपने अतिथि को छिलके खिलादूं या उसका गूदा। इसी पर श्रीसूरदासजी ने कहा था "दुर्योधन की मेवा त्यागी, शाक विदुर घर खायो" बहुधा श्रीकृष्णचन्द्रजी इन्हीं के यहाँ आकर विश्राम करते थे। इससे विदुर का महान् धर्मात्मा और नीतिवान होना प्रमाणित होता है।



अथ विदुरनीतिः

प्रथमोऽध्यायः ।

प्रणम्य परमात्मानं, गिरानन्दं च सद्गुरुः ।
विदुरनीतिस्सुबोधाय, क्रियते देशभाषया ॥

वैशम्पायन उवाच—

द्वाःस्थं प्राह महाप्राज्ञो धृतराष्ट्रो महीपतिः ।
विदुरं द्रष्टुमिच्छामि तमिहानय मा चिरम् * ॥१॥

वैशम्पायन बोले—

महा बुद्धिमान् महाराजा धृतराष्ट्र ने द्वारपाल से कहा, कि "मैं विदुर से मिलना चाहता हूँ, उन्हें यहाँ ले आओ, देर न करना" ।

---

* 'विदुर को देखना चाहता हूँ' जैसे आज कल (I wanted to see you Mr. Jedeo) अर्थात् "महाशय जयदेवजी मैं आप से मिलना चाहता था" में "See you" मिलने के अर्थ में प्रयोग किया गया है ।



प्रहितो धृतराष्ट्रेन दूतः क्षत्तारमब्रवीत् ।
ईश्वरस्त्वां महाराजो महाप्राज्ञ दिदृक्षति ॥२॥

इस प्रकार धृतराष्ट्रजी का भेजा हुआ द्वारपाल विदुरजी से जाकर बोला ।

"हे महा बुद्धिमान (विदुर) ऐश्वर्यशाली महाराज धृनगाष्ट्र) आप से मिलना चाहते हैं" ।

एवमुक्तस्तु विदुरः प्राप्य राजनिवेशनम् ।
अब्रवीद्धृतराष्ट्राय द्वाःस्थ ? मां प्रतिवैदये ॥३॥

तब विदुर जी राजभवन पर पहुंच कर द्वारपाल से कहने लगे, कि द्वारपाल ! मेरा निवेदन धृतराष्ट्र से कर दो कि—

द्वाःस्थ उवाच—

\+ विदुरोऽयमनुप्राप्तो राजेन्द्र ! तव शासनात् ।
द्रष्टुमिच्छति ते पादौ किं करोतु प्रशाधिमाम् ।४।

द्वारपाल ने तब जाकर कहा—

हे राजेन्द्र ! आपकी आज्ञा से विदुरजी आ गये हैं और वह चरण देखना चाहते हैं । वह क्या करें, यह आज्ञा मुझे दीजिये ।

\+ यहां 'चरण देखने' से शिष्टाचार वाक्य का प्रयोग करना ही इष्ट है । यह अभिवादन प्रथा टर्की में अब भी है । वहां क्रमशः लवेफर्श, कोरनिश और तहतुस्सलाम यह शिष्टाचार कहलाता है ।



धृतराष्ट्र उवाच—

प्रवेशय महाप्राज्ञं विदुरं दीर्घदर्शिनम् ।
अहं हि विदुरस्यास्य नाकल्पो जातु दर्शने ॥५॥

धृतराष्ट्र ने कहा—

दूर की सोचने वाले, परम बुद्धिमान् विदुर को ले आओ, मैं विदुर के दर्शनों के लिये सर्वथा समर्थ हूँ। अर्थात् दर्शन कर सकता हूँ।

द्वाःस्थ उवाच—

प्रविशान्तःपुरं क्षत्तर्महाराजस्य धीमतः ।
नहिते दर्शनेऽकल्पो जातु राजा ब्रवीद्धिमाम् ॥६॥

द्वारपाल ने आकर विदुरजी से कहा—

हे विदुर जी ! बुद्धिमान् महाराज धृतराष्ट्र के अन्तःपुर (भवनों) में चलिये। आपके दर्शन करने में महाराज कभी भी असमर्थ नहीं, ऐसा (राजा ने) मुझ से कहा है।

वैशम्पायन उवाच—

ततः प्रविश्य विदुरो धृतराष्ट्र निवेशनम् ।
अब्रवीत्प्राञ्जलिर्वाक्यं चिन्तयानं नराधिपम्

वैशम्पायन जी कहने लगे—

तब विदुर जी ने धृतराष्ट्र के भवन में जाकर चिन्तित (सोच में पड़े हुए) महाराज धृतराष्ट्र से हाथ जोड़ कर बोले।



विदुरोऽहं महाप्राज्ञ सम्प्राप्तस्तव शासनात् ।
यदि किञ्चन कर्तव्यमयमस्मि प्रशाधि माम् ॥८॥

हे महामतिमान् ! मैं विदुर आपकी आज्ञा से आगया हूं, यदि कोई कार्य हो तो मैं उपस्थित हूं। क्या आज्ञा है !

धृतराष्ट्र उवाच--

सञ्जयो विदुर ! प्राज्ञो गर्हयित्वा च मां गतः ।
अजातशत्रोः श्वो वाक्यं सभामध्ये स वक्ष्यति ॥९॥

धृतराष्ट्र बोले—

हे विदुर !बुद्धिमान् सञ्जय मेरी निन्दा करके इस समय यहां से गया है और कल सभा में भी वह "युधिष्ठिर के वाक्यों" को कहेगा।

तस्याद्य कुरुवीरस्य न विज्ञातं वचो मया ।
तन्मे दहति गात्राणि तदकार्षीत्प्रजागरम् ॥१०॥

उस युधिष्ठिर के "वह वचन" अभी मुझे विदित नहीं हो सके। वह मेरे अङ्गों को जलाता है और उसी से मुझे नींद भी नहीं आई।

जाग्रतो दह्यमानस्य श्रेयो यदनुपश्यसि ।
तद्ब्रूहि त्वं हि नस्तात धर्मार्थकुशलो ह्यसि ॥११॥



"जागते हुए भी जो जल रहा हो" उसके हितकी जो बात तुम्हें सूझती हो वह कहो। हे प्रिय ! तुम ही हम सब में धर्म और अर्थ का ज्ञान कराने में चतुर हो ।

यतःप्रातःसञ्जयःपांडवेभ्यो, न मे यथावन्मनसः प्रशान्तिः ।
सर्वेन्द्रियाण्यप्रकृतिंगतानि, किंवक्ष्यतीत्येवमेऽद्यप्रचिन्ता॥ १२

जब से संजय पांडवों के पास से आया है, मेरे मन को जैसी शान्ति होनी चाहिये, नहीं है। सब इन्द्रियों ने अपने २ स्वभाव को छोड़ सा दिया है। मुझे यही चिन्ता है, कि संजय आज क्या कहेगा।

विदुरो उवाच—

अभियुक्तं बलवता दुर्बलं हीनसाधनम् ।
हृतस्वं कामिनं चोरमाविशन्ति प्रजागरोः ॥ १३ ॥

विदुर जी कहने लगे—

बलवान से दबाया हुआ, दुर्बल, सामग्री रहित, धनहीन, कामी और चोर को नींद नहीं आती अर्थात् वही अधिक जागता है।

कच्चिदेतैर्महादोषैर्न स्पृष्टोऽसि नराधिप !
कच्चिच्च परवित्तेषु गृध्यन्न परितप्यसे ॥ १४ ।

हे राजन् ! कहीं इन (उपर्युक्त) महादोषों (व्याधियों) से तो छुये हुये (ग्रसित) तो नहीं हो; तथा ऐसा तो नहीं है, कि



किसी दूसरे के धन की लालसा रखते हुए दुखी तो नहीं हो रहे हो।

धृतराष्ट्र उवाच—

श्रोतुमिच्छामि ते धर्म्यं परं नैःश्रेयसं वचः।
अस्मिन्राजर्षिवंशे हि त्वमेकः प्राज्ञसम्मतः ॥ १५ ॥

धृतराष्ट्र बोले —

हे विदुर ! मैं तो आपके धर्मयुक्त एवं परम हितकारी बचनों को सुनना चाहता हूं। इस राजर्षि वंश में केवल तुम्हीं एक आदरणीय विद्वान् हो।

विदुर उवाच —

राजा लक्षणसम्पन्नस्त्रैलोक्यस्याधिपो भवेत्।
प्रेष्यस्ते प्रेषितश्चैव धृतराष्ट्र ! युधिष्ठिरः ॥ १६ ॥

विदुर जी ने कहा—

हे धृतराष्ट्र ! राजाओं के लक्षणों सहित तीनों लोकों का स्वामी बनने योग्य तुम्हारा सेवक युधिष्ठिर है, उसे वन निर्वासन किया गया अर्थात् वह निर्वासित कर दिया गया है।

विपरीततरंच त्वं भागधेये न सम्मतः।
अर्चिषां प्रक्षयाच्चैव धर्मात्मा धर्मकोविदः ॥ १७ ॥

धर्मानुकूल आचरण करने वाले, धर्म को जानने वाले होते हुए भी नेत्र ज्योति न होने के कारण तुम (राज्य) भाग के अयोग्य एवं अन्य राज लक्षणों से प्रतिकूल हो, परन्तु—



आनृशंस्यादनुक्रोशाद्धर्मात्सत्यात्पराक्रमात् ।
गुरुत्वात्त्वयि सम्प्रेक्ष्य बहून्क्लेशांस्तितिक्षते ॥१८॥

यह (युधिष्ठिर) हिंसा न करने से, दयालु न होने से, धर्म और सत्य से, पराक्रम एवं तुम में गुरु भाव (सम्मान) रख कर क्लेश सह रहा है।

दुर्योधने सौबले च कर्णे दुःशासने तथा ।
एतेष्वैश्वर्यमाधाय कथं त्वं भूतमिच्छसि ॥ १९ ॥

इन दुर्योधन, सौबल, कर्ण तथा दुःशासनादि को राज्य का अधिकारी बना कर तुम अपने ऐश्वर्य की क्या कामना रखते हो अर्थात् यह तुम्हें ऐश्वर्य कल्याणकारी नहीं, अपितु ! हानिप्रद है, क्यों कि—

आत्मज्ञानं समारम्भस्तितिक्षा धर्मनित्यता ।*
यमर्था नापकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २० ॥

आत्म ज्ञानी, उद्यम शील, सहन शील, सदा धर्म में दृढ़ वृत्ति और जिस को संसार के पदार्थ आकर्षित कर (खींच) न सकें उसे ही पण्डित कहा जाता है।

---

*मनु भगवान ने भी ऐसा ही कहा है।

"अर्थ कामेष्व सक्तानां धर्म ज्ञानं विधीयते"।

अर्थात् जो धन के लालच में न आ सके और इन्द्रियों के वशीभूत न हो, उस के लिये ही धर्म और ज्ञान का विधान है, सब के लिये नहीं।

निषेवते प्रशस्तानि निन्दितानि न सेवते ।
अनास्तिकः श्रद्धान एतत्पण्डितलक्षणम् ॥२१॥

जो प्रशंसा के योग्य काम करता है, निन्द्यकर्मों का त्यागन करता है, ईश्वर और वेद में विश्वास रखता है। श्रद्धालु हो, यही पण्डितों के लक्षण हैं।

क्रोधो दर्पश्च ह्रीस्तम्भो मान्यमानिता ।
यमर्थान्नाकर्षन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥ २२ ॥

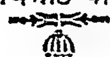
क्रोध, हर्ष, अभिमान, लज्जा, धैर्य और अहम्मन्यता (मैं हूं, मैं बड़ा हूं) जिस को कर्त्तव्य से नहीं हटा सकते, वह ही पण्डित जानो।

यस्य कृत्यं न जानन्ति मन्त्रं वा मन्त्रितं परे ।
कृतमेवास्य जानन्ति स वै पण्डित उच्यते ॥२३॥

जिसके कृत्य (विचार आयोजन) अथवा विचार किये हुये कार्य को कोई नहीं जानता, किन्तु जब तक वह कार्य सिद्ध होकर प्रमाणित न हो जावे, तब तक न जान सके, उसे ही पण्डित कहते हैं।

यस्य कृत्यं न विघ्नन्ति शीतमुष्णं भयं रतिः ।
समृद्धिरसमृद्धिर्वा स वै पण्डित उच्यते ॥ २४ ॥

जिस के कृत्य (करनी) को सर्दी, गर्मी, डर, काम धन प्रभाव अथवा धन हीनता से कोई बाधा उपस्थित नहीं होती वह ही पण्डित कहलाने योग्य है।



यस्य संसारिणी प्रज्ञा धर्मार्थावनुवर्त्तते ।
कामादर्थं वृणीते यः स वै पण्डित उच्यते ॥२५॥

जिसकी व्यावहारिक बुद्धि धर्म और अर्थ के अनुसार रहती है, जो काम (लालच) को त्याग कर अर्थ (कर्त्तव्य) को पकड़ता है वह ही पण्डित कहलाता है ।

यथाशक्ति चिकीर्षन्ति यथाशक्ति च कुर्वते ।
न किञ्चिदवमन्यन्ते नराः पण्डितबुद्धयः ॥ २६ ॥

पण्डित प्रज्ञा (बुद्धि) के लोग शक्ति (बल) के अनुसार ही करते हैं और शक्ति (सहायता) के अनुकूल आचरण करते हैं, वे किसी का अपमान (निरादर) नहीं करते ।

क्षिप्रं विजानाति चिरं शृणोति, विज्ञाय चार्थं भजते न कामात् ।
नासम्पृष्टो व्युपयुङ्क्ते परार्थे, तत्प्रज्ञानं प्रथमं पण्डितस्य ॥

जो कठिन विषय को शीघ्र समझ ले, अधिक समय तक स्वाध्याय करे, अर्थ का जानने वाला, कामना रहित लोकोपकार दृष्टि से सेवन करने वाला बिना पूछे सम्मिति न देने वाला हो, यह पण्डित के प्रथम लक्षण हैं ।

नाप्राप्यमभिवाञ्छन्ति नष्टं नेच्छन्ति शोचितुम ।
* आपत्सु च न मुह्यन्ति नराः पण्डितबुद्धयः ॥२८॥

पण्डित प्रज्ञा वाले मनुष्य न मिल सकने वाले पदार्थों को

---

* भर्तृहरि जी ने कहा है—"प्रारभ्य विघ्न विहता विरमन्ति मध्याः"

इच्छा नहीं करते और नष्ट हो जाने पर उसका पश्चाताप नहीं करते और विपत्ति में घबड़ाते भी नहीं हैं।

× निश्चित्य यः प्रक्रमते नान्तर्वसति कर्मणः।
अवन्ध्यकालो वश्यात्मा स वै पण्डित उच्यते ॥२९॥

निश्चय करके आरंभ करने वाला, विघ्न होने पर बीच में न रुकने वाला, व्यर्थ समय व्यतीत नहीं करता और मन को वश में रखता है, उसे ही पण्डित कहते हैं।

आर्यकर्मणि रज्यन्ते भूतिकर्माणि कुर्वते।
हितं च नाभ्यसूयन्ति पण्डिता भरतर्षभ ! ॥३०॥

हे धृतराष्ट्र ! पण्डित सज्जनों को करने योग्य कर्मों में प्रेम करते हैं, सदैव वैभवशाली कामों को करते हैं और हित की अवहेलना नहीं करते।

न हृष्यत्यात्म सम्माने नावमानेन तप्यते।
गाङ्गो ह्रद इवाक्षोभ्यो यः स पण्डित उच्यते ॥३१॥

अपनी प्रतिष्ठा में प्रसन्न न होने वाला, अपमान से दुखित न होने वाला, गङ्गा के गहरे ह्रद के समान जो अचल रहता है वह पण्डित कहलाता है।

तत्त्वज्ञः सर्वभूतानां योगज्ञः सर्वकर्मणाम्।
उपायज्ञो मनुष्याणां नरः पण्डि उच्यते ॥ ३२ ॥

× श्री कृष्णने गीता में कहा है-"गतासूनगतासूंश्च नैवमुह्यन्ति पंडितः"।



सब प्राणियों के भाव को जानने वाला, सब कार्यों के अर्थों का ज्ञाता और मानवी उद्योगों का जानने वाला मनुष्य पण्डित कहलाता है।

प्रवृत्तवाक्चित्रकथ ऊहवान् प्रतिभानवान् ।
आशु ग्रन्थस्य वक्ता च यः स पण्डित उच्यते ॥३३॥

जो धारा प्रवाह वक्ता, व्यङ्ग भाषी, तर्कशील, व्युत्पन्न वुद्धि एवं ग्रंथों को अनवरुध्यगति (बिना रुके) पढ़ने वाला पण्डित कहलाता है।

श्रुतं प्रज्ञानुगं यस्य प्रज्ञा चैव श्रुतानुगा ।
असम्भिन्नार्यमर्यादःपण्डिताख्यांलभेत सः ॥३४॥

जिस की बुद्धि सुने सत्यार्थ के अनुकूल और जिस का सुना हुआ बुद्धिपूर्वक हो, जो कभी श्रेष्ठ धार्मिक मनुष्यों की सीमा का उल्लंघन न करें, वही पण्डित कहलाता है।

अर्थं महान्तं मा साद्य विद्या मैश्वर्य मेव वा ।
विचरत्य समुन्नद्धो यः स पण्डित उच्यते ॥ ३५ ॥

अधिक धन अथवा विद्या एवं ऐश्वर्य को पाकर जो निरभिमानी होकर रहता है वही पण्डित कहलाता है।

इति पण्डित लक्षणम् ।

अश्रुतश्च समुन्नद्धो दरिद्रश्च महामनाः ।
अर्थांश्चाकर्मणा प्रेप्सुर्मूढ़ इत्युच्यते बुधैः ॥ ३६ ॥

जो शास्त्र विहीन महा अभिमानी, दरिद्री होकर मनोर्थ करने वाला और बिना कर्त्तव्य किये कर्म पदार्थ (फलों) की आशा करे, उसको बुद्धिमान् मूर्ख कहते हैं।

स्वमर्थं यः परित्यज्य परार्थमनुतिष्ठति ।
मिथ्या चरति मित्रार्थे यश्च मूढ़ः स उच्यते ॥ ३७ ॥

जो अपने प्रयोजन का त्याग करके अन्य के अर्थ (प्रयोजन) के झंझट में पड़ता है और मित्र के लाभ में मिथ्य *व्यवहार करता है, वह मूर्ख कहलाता है।*

अकामान् कामयति यः कामयानान् परित्यजेत् ।
बलवन्तं च यो द्वेष्टि तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३८

जो न चाहने वालों को चाहे, चाहने वालों का त्याग न करे और बलवान् से द्वेष करे, उसको मूढ़ बुद्धि कहते हैं।

अमित्रं कुरुते मित्रं मित्रं द्वेष्टि हिनस्ति च ।
कर्म चारभते दुष्टं तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ३९ ॥

जो शत्रु से मित्रता करे, मित्र से द्वेष करे, उसे दुःख पहुँचावे, दुष्ट कर्मों को करे. उसको मूढ़ बुद्धि कहते हैं।

संसारयति कृत्यानि सर्वत्र विचिकित्सते ।
चिरं करोति क्षिप्रार्थे स मूढ़ो भरतर्षभ ! ॥ ४० ॥

हे धृतराष्ट्र ! जो काम को तो अधिक फैलावे और सर्वत्र शङ्का ही की दृष्टि रक्खे, एवं शीघ्रता के कामों में देर करे, वह मूर्ख है।

श्राद्धं पितृभ्यो न ददादि दैवतानि न चार्चति ।
सुहृन्मित्रं न लभते तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४१ ॥

जो श्रद्धा पूर्वक अन्न, जल से पितरों का आदर दान, हवनादि से पञ्च देवताओं का यजन (पूजन) नहीं करता, मित्र को साथ नहीं रखता, उसको मूर्ख बुद्धि कहते हैं।

नाहूतः प्रविशति अपृष्टो बहु भासते ।
अविश्वस्ते विश्वसिति मूढचेता नराधमः ॥ ४२ ॥

जो विना बुलाये कहीं घुसे, बिना पूछे अधिक बोले और अविश्वासियों में विश्वास करे, वह मनुष्यों में अधम मूढ़ मति है।

परं क्षिपति दोषेण वर्त्तमानः स्वयं तथा ।
यश्च क्रुध्यत्यनीशानः स च मूढतमो नरः ॥ ४३ ॥

दूसरे पर दोष लगावे, परन्तु वही दोष चाहे, अपने में भी विद्यमान हो और असमर्थ होकर क्रोध करे, वह मनुष्य महा मूर्ख है।

आत्मनो बलमज्ञाय धर्मार्थपरिवर्जितम् ।
अलभ्यमिच्छन्नैष्कर्म्यान्मूढबुद्धिरिहोच्यते ॥ ४४ ॥

धर्म और अर्थ रहित, अपने बल को न पहचानने वाला

विना कर्म (उद्योग) किये न मिलने योग्य की इच्छा करने वाला संसार में मूढ़ बुद्धि कहलाता है।

अशिष्यं शास्ति यो राजन्यश्च शून्यमुपासते।
कदर्यं भजते यश्च तमाहुर्मूढचेतसम् ॥ ४५ ॥

हे राजन्! जो अशिष्य (अनाधिकारी) को शिक्षा देवे जो शून्य (विना ध्येय) की उपासना करे, जो निन्दित की सेवा करे उसको मूढ़ कहते हैं।

× एकः सम्पन्नमश्नाति वस्ते वासश्च शोभनम्।
योऽसंविभज्य भृत्येभ्यः को नृशंसतरस्ततः ॥४६॥

अपने आधीनों को जो विना बाँटे हुए अकेला ही भोजन करे और फिर अच्छे वस्त्र धारण करे, इससे बढ़ कर कौन नीच होगा।

एकः पापानि कुरुते फलं भुङ्क्ते महाजनः।
भोक्तारो विप्रमुच्यन्ते कर्त्ता दोषेण लिप्यते ॥ ४७ ॥

एक पाप को करे और परिणाम जन समुदाय भोगे भोगने वाले तो छूट जाते हैं, परन्तु कर्त्ता दोष से लिप्त हो जाता है।

एकं हन्यान्न वा हन्यादिषुर्मुक्तो धनुष्मता।
बुद्धिर्बुद्धिमतोत्सृष्टा हन्याद्राष्ट्रं सराजकम् ॥ ४८ ॥

× घरमें भूँजी भांग नाहीं, वेड़िनी नचावें।
टेढ़ी मेढ़ी पाग बांधें, लालाजी कहावें॥(वाली कहावत के मनुष्य



धनुष से छोड़ा हुआ बाण एक को मारे अथवा न मारे, परन्तु बुद्धिमान् द्वारा प्रयोजन साध्यवती बुद्धि राजा सहित राष्ट्र को नष्ट कर देती है।

एकया द्वे विनिश्चित्य त्रींश्चतुर्भिर्वशे कुरु।
*पञ्च जित्वा विदित्वा षट्सप्त हित्वा सुखी भव ४९

एक बुद्धि से दो (सत्य और असत्य) को जांचे। चार (साम, दाम, दण्ड, भेद) से तीन (काम, क्रोध और लोभ) को वशीभूत करे, पांच (ज्ञानेन्द्रियों) को विजय कर (सन्धि विग्रहादि) छः को जान कर सात दोषों को छोड़ देने से सुखी होता है। सात दोष यह हैं-१ निन्दा, २ कलह, ३ चापलूसी, ४ काम वासना, ५ चोरी, ६ मद्यात्य, ७ मिथ्या भाषण।

एकं विषरसो हन्ति शस्त्रेणैकश्च वध्यते।
सराष्ट्रं सप्रजं हन्ति राजानं मन्त्रविप्लवः ॥ ५० ॥

विष एक को मारता है, शस्त्र द्वारा भी एक ही मारा जाता है, परन्तु गुप्त सम्मति से उत्पन्न बिगाड़ राजा को राज्य सहित नष्ट कर देता है।

एकः स्वादु न भुञ्जीत एकश्चार्थान्न चिन्तयेत्।
*एको न गच्छेदध्वानं नैकः सुप्तेषु जागृयात् ॥५१॥

अकेला स्वादिष्ट भोजन खावे, अकेला सांसारिक बातों

---

* सब से पूर्व ज्ञानेन्द्रियां ही दुष्ट वासना की ओर ले जाती हैं।
* चाणक्य का "चतुर्भिर्गमनं" इत्यादि वाला भाव है।



को न सोचे, मार्ग में अकेला न जावे और जहां अधिक सो रहे हों, अकेला न जावे।

अभिप्राय! बहुधा स्वादिष्ट भोजन में विप मिलाकर देते हैं, इस लिये पहिले कुत्ते, तोते, चकोर को खिलावे, इसी सिद्धांत पर यह जानवर राज घरों में पाले जाते थे। कुत्ता खाकर पागल हो जाता है, तोता विपयुक्त पदार्थ खाकर बोट करके तुरन्त पदार्थ छोड़ देता है, चकोर विपयुक्त पदार्थ देखकर अपने नेत्र लाल कर लेता है। सांसारिक बातें अकेले सोचने से इस लिये ठीक नहीं उतरतीं, कि मनुष्य अपना सदैव भला सोचता है; बुराई को विचारता भी नहीं, दो में प्रश्नोत्तर ऊंचाई, नींचाई सब ओर दृष्टि डाली जा सकती है। अकेला मार्ग में असहाय रहता है, मार्ग कटता भी नहीं। अकेला सोते हुओं में जाने से उसे चोरी लग सकती है और चोर के धोखे में पीटे जाने का भय है. इत्यादि दोप हैं।

एकमेवाद्वितीयं तद्यद्राजन्नावबुध्य से।
सत्यं स्वर्गस्य सोपानं पारावारस्य नौरिव ॥ ५२ ॥

हे राजन्! एक ही अनोखेसंसार रूपी समुद्र की नाव के समान स्वर्ग की सीढ़ी जो सत्य है, उसको तुम नहीं जानते।

एकः क्षमावतां दोपो द्वितीयो नोपपद्यते।
यदेन क्षमया युक्तमशक्तं मन्यते जनः ॥ ५३ ॥

क्षमाशील में एक दोप है,कि वह क्षमा कर देने से अशक्त समझा जाता है, अर्थात् न्याय युक्त दण्ड देने में क्षमा को स्थान



देना अशक्तता है । इसके सिवाय क्षमाशील में कोई अन्य दोष नहीं ।

सोऽस्य दोपो न मन्तव्यः क्षमा हि परमं बलम् ।
क्षमागुणो ह्यशक्तानां शक्तानां भूषणं क्षमा ॥५४॥

यह दोष इन (क्षमा शीलों) का न मानना चाहिये, क्योंकि क्षमा ही एक बड़ा है । निर्बलों का तो क्षमा साधन एक गुण विशेष ही है, परन्तु बलवानों का वह भूषण है ।

क्षमा वशीकृतिर्लोके क्षमया किं न साध्यते ? ।
शान्तिखड्गः करे यस्य किं करिष्यति दुर्जनः ॥५५॥

क्षमा संसार को वश में कर लेती है । क्षमा से क्या सिद्ध नहीं होता ! जिसके हाथ में शान्ति रूपी तलवार है उसका दुष्ट पुरुष क्या कर सकेगा ।

अतृणे पतितो वह्निः स्वयमेवोपशाम्यति ।
अक्षमावान्परं दोपैरात्मानं चैव योजयेत् ॥५६॥

तिनके रहित भूमि पर पड़ी हुई अग्नि आप बुझ जाती है और क्षमा हीन मनुष्य अपने को बड़े दोषों युक्त कर लेता है ।

एको धर्मः परं श्रेयः क्षमैका शान्तिरुत्तमा ।
विद्यैका परमा तृप्तिरहिंसैका सुखावहा ॥ ५७ ॥

एक धर्म ही परम कल्याणप्रद है । एक क्षमा ही उत्तम शान्ति है एक विद्या ही परम संतोष देती है और अहिंसा एक मात्र सुख देने वाली है ।



द्वाविमौ ग्रसते भूमिः सर्पो बिलशयानिव ।
राजानं चाविरोद्धारं ब्राह्मणं चाप्रवासिनम् ॥ ५८ ॥

पराक्रम रहित राजा, द्वार सेवी ब्राह्मण इन दोनों को वहीं की भूमि ऐसे खा जाती है (अर्थात् उनका वृथा जीवन है) जैसे कि सांप बिल में रहने वालों को खा जाता है ।

द्वे कर्मणी नरः कुर्वन्नस्मिँल्लोके विरोचते ।
अब्रुवन्परुषं कश्चिदसतोऽनर्चयँस्तथा ॥ ५९ ॥

दो कामों का करने वाला संसार में प्रसिद्ध होता है, एक कटु वचन न बोले, दूसरे नीचों का सत्कार न करे ।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र ! परप्रत्ययकारिणौ ।
स्त्रियः कामितकामिन्यो लोकः पूजितपूजकः ॥६०॥

हे पुरुषों में श्रेष्ठ धृतराष्ट्र ! यह दो पराश्रित हो काम करते हैं, स्त्रियां अन्य की चाही हुई वस्तु को द्वेष (श्रद्धा) से चाहती हैं और संसार पूजनीय को पूजने लगता है ।

द्वाविमौ कण्टकौ तीक्ष्णौ शरीर परिशोषणौ ।
यश्चाधनः कामयते यश्च कुप्यत्यनीश्वरः ॥ ६१ ॥

यह दो पैने कांटे हैं जो शरीर को सुखा हैं देते । दरिद्री होकर ऊंची इच्छा करे और असमर्थ होकर क्रोध करे ।

द्वावेव न विराजेते विपरीतेन कर्मणा ।
गृहस्थश्च निरारम्भः कार्यवांश्चैव भिक्षुकः ॥ ६२ ॥



यह दो विरुद्ध कर्मों से शोभा को नहीं प्राप्त होते। जो गृहस्थी होकर उद्यम न करे और भिखारी उद्योग करता फिरे।

द्वाविमौ पुरुषौ राजन्स्वर्गस्योपरि तिष्ठतः।
प्रभुश्च क्षमया युक्तो दरिद्रश्च प्रदानवान् ॥ ६३ ॥

हे राजन्! यह दो मनुष्य विशेष सुख का अनुभव करते हैं, क्षमा सम्पन्न ऐश्वर्यवान् और दरिद्री दाता।

न्यायागतस्य द्रव्यस्य बोद्धव्यौ द्वावतिक्रमौ।
अपात्रे प्रतिपत्तिश्च पात्रे चाप्रतिपादनम् ॥ ६४ ॥

न्याय से उपार्जित धन के दो ही दुरुपयोग होते हैं। अयोग्यों को दान देना और योग्य पात्र को न देना।

द्वावम्भसि निवेष्टव्यौ गले बद्ध्वा दृढां शिलाम्।
धनवन्तमदातारं दरिद्रं चातपस्विनम् ॥ ६५ ॥

दो के गले में भारी पत्थर बाँध कर जल में डुबादे। दान न देने वाले धनी को और असह्य दरिद्र को।

द्वाविमौ पुरुषव्याघ्र! सूर्यमण्डलभेदिनौ।
परिव्राड्योगयुक्तश्च रणे चाभिमुखो हतः ॥ ६६ ॥

हे धृतराष्ट्र! यह दो सूर्य मण्डल को भेदन करने वाले (दिगन्त कीर्तिमान्) हैं योगाभ्यासी, संन्यासी और रण में सन्मुख लड़ता हुआ मरने वाला।

त्रयः पापा मनुष्याणां श्रूयन्ते भरतर्षभ!।
कनीयान्मध्यमः श्रेष्ठ इति वेदविदो विदुः ॥६७॥



हे धृतराष्ट्र ! मनुष्यों में तीन प्रकार के पापी सुने जाते हैं, उत्तम, मध्यम व निकृष्ट; इन्हें वेद के जानने वाले (अनुभवी) जानते हैं।

त्रिविधाः पुरुषा राजन्नुत्तमाधममध्यमाः ।
नियोजयेद्यथावत्तांस्त्रिविधेष्वेव कर्मसु ॥ ६८ ॥

हे राजन् ! तीन प्रकार के पुरुष होते हैं—उत्तम, मध्यम, नीच यह यथावत् तीन ही प्रकार के कामों में लगते हैं यथा संख्या उत्तम, मध्यम और नीच ।

त्रय एवाधना राजन्भार्या दासस्तथा सुतः ।
यत्ते समधिगच्छन्ति यस्य ते तस्य तद्धनम् ॥६९॥

हे राजन् ! तीन ही धनहीन माने गये हैं—स्त्री, दास और पुत्र जो कुछ वह कमाते हैं वह जिसके आश्रित रहते हैं उसका होता है।

हरणं च परस्वानां परदाराभिमर्शनम् ।
सुहृदश्च परित्यागस्त्रयो दोषाः क्षयावहाः ॥७०॥

तीन दोष नाश करने वाले होते हैं—पराये धन का छीनना, पराई स्त्री का सङ्ग और उत्तम मित्र का विछोह ।

त्रिविधं नरकस्येदं द्वारं नाशनमात्मनः ।
कामःक्रोधस्तथा लोभस्तस्मादेतत्त्रयं त्यजेत् ॥ ७१ ॥

तीन प्रकार के दुःखों से आत्मा (अपनी) को हानि होती



है अर्थात् काम, क्रोध तथा लोभ ! अतः यह तीनों अति के त्याज्य है ।

वरप्रदानं राज्यं च पुत्रजन्म च भारत !
शत्रोश्च मोक्षणं कृच्छ्रात्त्रीणि चैकं च तत्समम् ।७२।

हे धृतराष्ट्र ! वरदान (इच्छा शक्ति) राज्य दान और पुत्र का जन्म -- तीन कार्य हैं, परन्तु शत्रु को कठिन दुख से मुक्त कराना पूर्वोक्त तीनों और यह एक बराबर है ।

भक्तं च भजमानं च तवास्मीति च वादिनम् ।
त्रीनेतांश्छरणं प्राप्तान्विषमेऽपि न सन्त्यजेत् । ७३॥

भक्त, भृत्य और "मैं आपका हूँ" ऐसा कथन करने वाले इन तीन शरण में आये हुओं का कभी साथ न छोड़े ।

चत्वारि राज्ञा तु महाबलेन,
वर्ज्यान्याहुः पण्डितस्तानि विद्यात् ।
अल्पप्रज्ञैः सह मन्त्रं न कुर्यात्,
दीर्घसूत्रै रभसैश्चारणैश्च ॥ ७४ ॥

शक्तिशाली राजा को चार बातें वर्जित हैं, वह बुद्धिमान् को जान लेनी चाहिये । थोड़ी बुद्धि वाले के साथ, आनाकानी (टालमटोल) करने वाले तथा छिछोरे और भाटों (व्यर्थ स्तुति करने वा) के साथ मन्त्रणा विचार न करे ।

चत्वारि ते तात ! गृहे वसन्तु श्रियाभिजुष्टस्य गृहस्थधर्मे ।
वृद्धो ज्ञातिरवसन्न,कुलीनः सखा दरिद्रो भगिनी चानपत्या ॥



हे प्यारे ! गृहस्थ धर्म में, लक्ष्मी युक्त तेरे घरमें चार ही निवास करें, कुटुम्बी, दुःखित कुलीन, दरिद्र मित्र और सन्तान-हीन बहिन अर्थात् इन्हे गृहस्थ में आश्रय देना चाहिये ।

चत्वार्याह महाराज ! साद्यस्कानि बृहस्पतिः ।
पृच्छते त्रिदशेन्द्राय तानीमानि निबोध मे ॥७६॥

हे महाराज ! उस राजा के लिये कि जो प्रश्न करे चार बातें सद्य (तत्काल) लाभदायक हैं मुझसे समझ ले, वह यह हैं ।

❁ देवतानां च सङ्कल्पमनुभावं च धीमताम् ।
विनयं कृतविद्यानां विनाशं पापकर्मणाम् ॥७७॥

बुद्धिमानों का संकल्प (विचार) मेधावियों का अनुभव, विद्या पढ़े हुओं का विनय और पापाचरण करने वालों का नाश होता है ।

चत्वारि कर्माण्यभयङ्कराणि भयं प्रयच्छन्त्ययथाकृतानि ।
मानाग्निहोत्रमुत मानमौनं मानेनाधीतमुत मानयज्ञः॥७८॥

चार कामों से मनुष्य निर्भय रहता है, परन्तु वही अनुचित रीति से करने पर भय देने वाले होजाते हैं, अर्थात् विधिवत् अग्निहोत्र विधि से मौन धारण, विधि से विद्याध्ययन और विधि से ही यज्ञ करना ।

❁ विद्वा हि सोहि देवा । विद्वानों का ही नाम देवता है, ऐसा शतपथ ब्राह्मण में लिखा है ।



* पञ्चाग्नयो मनुष्येण परिचर्याः प्रयत्नतः ।
पिता माताग्निरात्मा च गुरुश्च भरतर्षभ ! ॥७९॥

हे धृतराष्ट्र ! मनुष्यों को इन पांच अग्नियों की यत्न से सेवा करनी योग्य है । माता, पिता, अग्निहोत्र आत्मा और गुरू ।

\+ पञ्चैव पूजयंल्लोके यशः प्राप्नोति केवलम् ।
देवान्पितॄन्मनुष्यांश्च भिक्षूनतिथिपञ्चमान् ॥८०॥

देवता, पितर, मनुष्य, भिक्षुक और पांचवां अतिथि इन पांचों का सत्कार करने वाला लोक में कीर्तिमान् होता है ।

पञ्च त्वानुगमिष्यन्ति यत्र यत्र गमिष्यसि ।
मित्राण्यमित्रा मध्यस्था उपजीव्योपजीविनः ॥८१॥

जहां २ तू जावेगा यह पांच तेरे ही पीछे जांयगे, मित्र, शत्रु, उदासीन, आश्रयदाता और आश्रित अर्थात् इनका ध्यान (विचार) तू अपने चित्त से भुला नहीं सकता ।

---

* जनिता चोपनीताच यस्तु विद्या प्रयच्छति । अन्न दाता भय त्राता पंचैते पितरः स्मृताः । चाणक्य के मत में भी यही पितर माने गये हैं । "जगत. पितरौ वन्दे पार्वती परमेश्वरौ" महा कवि कालिदास ने भी "पितर" शब्द का प्रयोग जन्म दा..ा के ही अर्थ में किया है ।

\+ पंचाग्नि का जो महत्त्व है वह इन्हीं की सेवा करने से प्राप्त होने से इन्हें ही तादात्म्य सम्बन्ध में पंचाग्नि 'स्वयं' कह दिया है ।

प्रमदाः कामयानेषु यजमानेषु याजकाः ।
राजा विवदमानेषु नित्यं मूर्खेषु पण्डिताः ॥ ६० ॥

मदोन्मत्ता कामियों में, यजमानों में, यज्ञ कराने वाले, झगड़ा करने वालों में राजा और निपट मूर्खों में पण्डित ।

षडिमानि विनश्यन्ति मुहूर्त्तमनवेक्षणात् ।
गावः सेवा कृषिर्भार्या विद्यां वृषलसङ्गतिः ॥ ६१ ॥

मुहूर्त्त मात्र (क्षणभर) की भूल से यह छः नष्ट होजाते हैं—गौ, नौकरी, खेती, स्त्री, विद्या और खोटी सङ्गति ।

षडेते ह्यवमन्यन्ते नित्यं पूर्वोपकारिणम् ।
आचार्य शिक्षिताः कृतदाराश्च मातरम् ॥ ६२ ॥

यह छः किये हुए उपकार का अनादर करने वाले होते हैं- शिक्षित शिष्य पढ़ाने वाले आचार्य का और स्त्री प्राप्त (विवाह हो चुकने पर) पुरुष माता का ।

नारीं विगतकामास्तु कृतार्थाश्च प्रयोजकम् ।
नावं निस्तीर्णकान्तारा आतुराश्च चिकित्सकम् ॥६३॥

यौवन (काम) नष्ट स्त्री का, कृतार्थ कार्य साधक का, पार उतर जाने पर नाव का और निरोग होने पर वैद्य का ।

आरोग्यमानृण्यमविप्रवासः, सद्भिर्मनुष्यैः सह सम्प्रयोगः ।
स्वप्रत्ययावृत्तिरभीतवासःषड्जीवलोकस्य सुखानि राजन्६४



स्वस्थता, ऋणी होना, परदेश में न रहना, सत्पुरुषों से मेल, अनुकूल जीविका एवं निर्भयता, हे राजन् ! यह छः प्राणी के सुख साधन हैं।

ईर्षुर्घृणी न संतुष्टः क्रोधिनो नित्यशङ्कितः ।
परभाग्योपजीवी च षडेते नित्य दुःखिताः ॥ ६५ ॥

डाह करने वाला, दयालु, सन्तोष हीन, क्रोधी, सदा शङ्का युक्त, दूसरे के सहारे जीविका वाले यह छः नित्य दुखी रहते हैं।

सप्त दोषाः सदा राज्ञा हातव्या व्यसनोदयाः ।
प्रायशो यैर्विनश्यन्ति कृतमूला अपीश्वराः ॥ ६६ ॥

बहुधा जिनसे बड़े २ सुदृढ़ राज भी विनाश को प्राप्त होते हैं, अतः ऐसे व्यसनों को उत्पन्न करने वाले सात दोषों को राजाओं को त्यागन कर देने चाहिये।

स्त्रियोऽक्षा मृगया पानं वाक्पारुष्यं च पञ्चमम् ।
महच्च दण्डपारुष्यमर्थदूषणमेव च ॥ ६७ ॥

स्त्रियां, जूआ, आखेट (शिकार) शराब पीना और पांचवां कठोर भाषण, कठोर दण्ड तथा धन का दुरुपयोग।

अष्टौ पूर्वनिमित्तानि नरस्य विनशिष्यतः ।
ब्राह्मणान्प्रथमं द्वेष्टि ब्राह्मणांश्च विरुध्यते ॥ ९८ ॥

जिस का नाश होने वाला होता है उसके पूर्व रूप यह हैं– ब्राह्मणों से द्वेष [illegible] उनका विरोध–



ब्राह्मणस्वानि चादत्ते ब्राह्मणांश्च जिघांसति ।
रमते निन्दया चैषां प्रशंसां नाभिनन्दति ॥ ९९ ॥

वह ब्राह्मणों के अधिकारों को छीनता है और उन्हें दुख देता है, उनकी निन्दा से प्रसन्न होता है और प्रशंसा सुनना नहीं चाहता—

नैनान्स्मरति कृत्येषु याचितश्चाभ्यसूयति ।
एतान्दोषान्नरःप्राज्ञो बुध्येद्बुद्ध्वा विसर्जयेत् ॥१००॥

न उन्हें (ब्राह्मणों को) शुभ कार्यों में बुलाता है और मांगने पर उनकी निन्दा करता है इन दोषों को बुद्धिमान् जान कर इनका त्यागन करे ।

अष्टाविमानि हर्षस्य नवनीतानि भारत ।
वर्तमानानि दृश्यन्ते तान्येव स्वसुखान्यपि ॥१०१॥

हे भारत ! इन आठ अवस्थाओं में हर्ष का सार है जो अपने को भी सुखदायक होती हैं ।

समागमश्च सखिभिर्महांश्चैव धनागमः ।
पुत्रेण च परिष्वङ्गः संनिपातश्च मैथुने ॥ १०२ ॥

मित्रों से मिलाप, अधिक धन का आना, पुत्र को गले लगाना और मैथुन (विषय) के समय गिरावट (स्खलित) होना ।

समये च प्रियालापः स्वयूथ्येषु समुन्नतिः ।
अभिप्रेतस्य लाभश्च पूजा च जनसंसदि ॥ १०३ ॥



अवसर पर प्रिय वाक्य, अपने समुदाय (गिरोह) में उन्नति शील जिसकी इच्छा हो उसकी प्राप्ति और सभा में आदर।

अष्टौ गुणाः पुरुषं दीपयन्ति,
प्रज्ञा च कौल्यं च दमः श्रुतंच।
पराक्रमश्चाबहुभाषिता च,
दानं यथाशक्ति कृतज्ञता च ॥ १०४ ॥

आठ गुणों से मनुष्य यश प्राप्त करता है। श्रेष्ठ बुद्धि उच्च कुल, इन्द्रियों पर अधिकार, वेद पाठ, पुरुषार्थ, कम बोलना, शक्ति के अनुकूल दान और किये हुये का उपकार मानना।

नवद्वारमिदं वेश्म त्रिस्थूणं पञ्चसाक्षिकम्।
क्षेत्रज्ञाधिष्ठितं विद्वान्यो वेद स परः कविः ॥१०५॥

इस शरीर रूपी घर के नौ द्वार हैं तीन खम्भे और पांच झरोखा (इन्द्रियां) साक्षी इसमें जीव रहता है, जो यह जानता है, वह महा चतुर और विद्वान् है।

दश धर्मं न जानन्ति धृतराष्ट्र! निबोध तान्।
मत्तः प्रमत्त उन्मत्तः श्रान्तः क्रुद्धो बुभुक्षितः ॥१०६॥

हे धृतराष्ट्र! दश प्रकार के मनुष्य धर्म नहीं जानते अर्थात् मदमत्त (घमण्डी) प्रमादी (दीर्घ सूत्री) उन्मादादि मस्तिष्क रोगों से ग्रसित, थका हुआ और क्रोधी तथा भूखा।



त्वरमाणाश्च लुब्धश्च भीवः कामी च ते दश ।
तस्मादेतेषु सर्वेषु न प्रसज्जेत पण्डितः ॥ १०७ ॥

शीघ्रता करने वाले, लालची, डरपोक तथा कामी इनसे बुद्धिमान् अधिक मेल न रक्खे ।

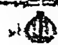
अत्रैवोदाहरन्तीममितिहासं पुरातनम् ।
पुत्रार्थमसुरेन्द्रेण गीतं चैव सुधन्वना ॥ १०८ ॥

यहां पुराना इतिहास कहा जाता है कि पुत्र के लिये प्रह्लाद ने सुधन्वा के साथ कही ।

यः काम मन्यू प्रजहाति राजा,
पात्रे प्रतिष्ठा पयते धनं च ।
विशेष विच्छ्रुतवान् क्षिप्रकारी,
तं सर्व लोकः कुरुते प्रमाण ॥१०९॥

जो राजा काम, क्रोध का त्यागन करके देने योग्य (सत्पात्र) धन देता है, अधिक जानने वाला, शास्त्रों का ज्ञाता, और कार्यों को शीघ्र करने वाला होता है, उसको सब संसार में प्रमाण रूप माना जाता है ।

जानाति विश्वासयितुं मनुष्यान्-
विज्ञातदोपेषु दधाति दण्डम् ।
जानाति मात्रां च यथा क्षमा च,
तं तादृशं श्रीजुषते समग्रा ॥ ११० ॥



जो मनुष्य को विश्वास दिला सकता है। दोष के ज्ञान के अनन्तर अपराधी को दण्ड देता है और दोष की मात्रा तथा क्षमा को जानता है, उस वैसे ही पुरुष को लक्ष्मी सदा सेवन करती हैं।

सुदुर्बलं नावजनाति कञ्चिद्युक्तो रिपुं सेवते बुद्धि पूर्वम्।
न विग्रहं रोचयते बलस्थैः काले च यो निक्रमते स धीरः॥१११

जो छोटे से छोटे शत्रु की ओर से तनिक भी असावधान नहीं, युक्ति से बुद्धि पूर्वक उससे व्यवहार रखता है जो बलवानों से विग्रह (झगड़ा) नहीं करता, समय पड़ने पर पराक्रम दिखलाता है, वही धीर है।

प्राप्या पदं न व्यथते कदाचि दुद्योगमन्विच्छति चाप्रमतः।
दुःखं च काले सहते महात्मा धुरन्धरस्तस्य जिताःसपत्नाः११२

आपत्ति आने पर कभी दुखियाता नहीं, सावधान होकर उद्योग करता है, समय पर दुःख को सहन करता है, वही भार का उठाने वाला महात्मा है उसके सब शत्रु आधीन रहते हैं।

अनर्थ कं विप्रवासंगृहेभ्यःपापैःसन्धिं पर दाराभि मर्शम्।
दम्भं स्तैन्यं पैशुनं मद्यपानं न सेवते यश्च सुखीसदैव ॥११३

जो व्यर्थ घर से बाहर रहे, पापियों से सम्बन्ध, पर स्त्री गमन, पाखण्ड, चोरी और शराब का सेवन नहीं करता, वह सदैव सुखी रहता है।

नंमोहंदैवतंमङ्गलानि प्रायश्चित्तान्विविधांल्लोकवादान्
तानि यः कुरुते नैत्यकानि तस्योत्थानं देवताराधयन्ति १२१

दान, प्रेम देव पूजा, शुभकर्म, प्रायश्चित्त, (पापों की शुद्धि) संसार की ऊँच नीच बातें इनको जो नित्य करता है, विद्वान् इसकी उन्नति चाहते हैं।

समैर्विवाहं कुरुते न हीनैः समैः सख्यं व्यवहारं कथां च।
गुणै र्विशिष्टांश्च पुरो दधाति विपश्चितस्तस्य नयाः सुनीताः॥

नीचों से विवाह सम्बन्ध न करके, बराबर वालों से करता है, समान स्थिति वालों से मेल व्यवहार तथा संलाप (वार्तालाप) करता और बड़ों (वयोवृद्ध, ज्ञानवृद्धों) को आगे रखता है, उस बुद्धिमान् (ज्ञानी) की नीति (चलन चातुरी) अच्छी चलती है।

मितं भुँक्ते संविभज्याश्रितेभ्यो मितं स्वपित्यमितंकर्म कृत्वा
ददात्यमित्रेष्वपि याचितःसस्तमात्मवन्तं प्रजहत्यनर्थाः १२३

अपने आधीनों (आश्रितों) को बांटने पर जो थोड़ा खाता है, अधिक काम करने पर जो थोड़ा सोता है। मांगने पर शत्रुओं को भी देता है ऐसे आत्मवान् (अपने पहिचानने वाले का कभी अनर्थ नहीं होता।



❀ चिकीर्षितं विप्रकृतं च यस्य,
नान्ये जनाः कर्म जानन्ति किञ्चित् ।
मन्त्रे गुप्ते सम्यगनुष्ठिते च,
नाल्पोप्यस्य च्यवते कश्चिदर्थः ॥ १२४ ॥

जिसके स्वभाव से उसके बिचारे हुए कामों को मनुष्य न जान पावे गुप्त बिचार को भी न जान सकें और जब कार्य भली प्रकार सिद्ध हो जावे तब जानें । ऐसे पुरुष का कोई थोड़ा सा भी काम नहीं बिगाड़ सकता ।

यः सर्वभूतप्रशमे निविष्टः सत्योमृदुर्मान कृच्छुद्ध भावः ।
अतीव स ज्ञायते ज्ञाति मध्ये महामणिर्जात इव प्रसन्नः ॥

जो सब प्राणियों को चाहता है, सत्य बोलता है, कोमल स्वभाव वाला है, योग्य मनुष्यों का मान करता है, शुद्ध भावना वाला है वह उत्तम जाति के निर्मल रत्न की भांति अपने कुटुम्ब में शोभन शील और प्रसिद्ध होता है ।

य आत्मनापत्रपते भृशं नरः स सर्वलोकस्यगुरुर्भवत्युत ।
अनंत तेजाः सुमानाः समाहितः स तेजसासूर्यइवाव भासते॥

❀ गिरधर कवि की कुण्डलियों में इसी का अनुवाद है ।
"साईं अपने चित्त की भूल न कहिये कोय ।
तब लगि मन में राखिये, जब लगि कारज होय" ॥ इत्यादि०



अनारभ्या भवन्त्यर्थाः केचिन्नित्यं तथाऽगतः ।
कृतः पुरुषकारो हि भवेद्येषु निरर्थकः ॥ २० ॥

नित्य के प्राप्त अर्थ के भी ऐसा नहीं, कि आरम्भ कर ही देना चाहिये, क्यों कि बहुधा उनमें किया हुआ प्रयत्न निष्फल भी होता देखा गया है ।

प्रसादो निष्फलो यस्य क्रोधश्चापि निरर्थकः ।
न तं भर्तारि मिच्छन्ति षण्ढं पति मिव स्त्रियः ॥२१॥

जिसका वृथा हर्ष और क्रोध भी निरर्थक है उसको प्रजा अपना स्वामी नहीं बनाती जैसे नपुंसक को स्त्रियाँ नहीं चाहतीं ।

कांश्चि दर्थान्नरः प्राज्ञो लघु मूलान्महा फलान् ।
क्षिप्र मारभते कर्त्तुं न विघ्न यति तादृशान् ॥२२॥

बुद्धिमान् मनुष्य छोटी जड़ वाले (जिस को पुष्ट न देखे) और बड़े फल वाले (प्रत्यक्ष में बड़े लाभ के) कार्यों को शीघ्र ही आरम्भ करने में विघ्न (देरी) नहीं करते । अर्थात् विचार पूर्वक काम में देरी नहीं करना चाहिये ।

ऋजु पश्यति यः सर्वं चक्षुसानुपिबन्निव ।
आसीन मपि तूष्णीकमनुरज्यन्ति तं प्रजाः ॥ २३ ॥

आँखों में पीते हुए के समान (प्रेम दृष्टि से) सब से प्यार की दृष्टि से देखता है चुप बैठे हुए ऐसे राजा को प्रजा प्रेम करती है ।



सुपुष्पिता स्याद् फलः फलितः स्याद दुरारुहः ।
अपक्वः पक्व संकाशो न तु शीर्येत कर्हिचित् ॥२४॥

भली प्रकार फूला हुआ (वृक्ष) फल रहित हो, फला हुआ कठिनता से प्राप्त होने योग्य हो, कच्चा होते हुए भी पक्का प्रतीत होवे फिर भी टपके (गिरे) नहीं तो उससे क्या लाभ। अर्थात् जो राजा इस प्रकार के वृक्ष समान होते हैं उनसे प्रजा को क्या लाभ।

चक्षुसा मनसा वाचा कर्मणा च चतुर्विधम ।
प्रसादयति यो लोकं तं लोकोऽनु प्रसीदति ॥२५॥

नेत्र (दर्शन देकर) मन, वाणी और व्यवहार इन चार भांति से जो संसार (प्रजा) को प्रसन्न करता है उस राजा को प्रजा प्रसन्न रखती हैं

यस्मात् त्रस्यन्ति भूतानि मृग व्याधान्मृगाइव ।
सागरान्तामपि महीं लब्ध्वा स परि हीयते ॥ २६ ॥

जिस पर व्याधे से हरिण डरते हैं उसी प्रकार जिस राजा से प्राणी दुःख पाते हैं उस राजा का यदि सागरांत (समुद्र पर्यंत) भी राज भी नष्ट हो जाता है।

पितृ पैतामहंराज्यं प्राप्तवान स्वेन कर्मणा ।
वायुरभ्र मिवा साद्य भ्रंश यत्यनये स्थितः ॥ २७ ॥

अनीति के भरोसे, (बल पर) राजा अपने बाप-दादे आदि



से प्राप्त (वंश परम्परा गत) राज्य को भी ऐसे नष्ट कर बैठते हैं कि जैसे वायु बादल को नष्ट (छिन्न-भिन्न) कर डालता है।

धर्ममा चरतो राज्ञः सदभिश्चरित मादितः।
वसुधा वसु सम्पूर्णा वर्धते भूति वर्द्धिनी ॥ २८ ॥

आरम्भ से सज्जनों द्वारा करने योग्य धर्म के अनुकूल आचरण वाले राजा की भूमि धन धान्य युक्त रहती है कि जिस से उसका ऐश्वर्य बढ़ता है।

अथ संत्यजतो धर्ममधर्मं चानुतिष्ठितः।
प्रति सम्वेष्टते भूमि रग्नौ चर्माहितं यथा ॥ २९ ॥

पर, जो धर्म को छोड़ कर अधर्म का आश्रय लेता है, उसकी भूमि में घटोतरी होती है, जैसे अग्नि में डाला हुआ चाम अर्थात् दुर्गन्ध देता है, इसी प्रकार राजा का अपयश होता है।

ए एव यत्नः क्रियते परराष्ट्र विमर्दने।
स एव यत्नः कर्त्तव्यः स्वराष्ट्र परिपालन ॥ ३० ॥

जो शत्रु के राज्य नष्ट करने में प्रयत्न किया जावे तो वही यत्न राजा अपने राज्य के पालन और रक्षण में क्यों न करें अर्थात् स्वराज्य स्थापन में प्रयत्न करना चाहिये।

धर्मेण राज्यं विन्देत धर्मेण परि पालयेत्।
धर्म मूलां श्रियं प्राप्य न जहाति न हीयते ॥३१॥



धर्म से ही राज्य ले और धर्म से ही राज्यका पालन करे, धर्मयुक्त लक्ष्मीवान् राजा को न लक्ष्मी छोड़तीहै और न राजा ही लक्ष्मी रहित हो सकता है।

अप्युन्मत्तात्प्रलपतो बालाच्च परि जल्पतः ।
सर्वतः सार मदद्या दश्मभ्य इव कांचनम् ॥ ३२ ॥

उन्मत्त से, बातून से, बालक से एवं गाली देने वाले से भी सार गृहण करे, जैसे मनुष्य पत्थरों से सोना निकाल लेते हैं अर्थात् विना कसौटी पत्थर पर रगड़े सोना सोना नहीं कहलाता। इसी प्रकार विना सारग्राही होने के वाक्य तत्व नहीं जाना जा सकता।

सुव्याहृतानि सूक्तानि सुकृतानि ततस्ततः ।
संचिन्वन धरि आसीत शिलाहारी शिलं यथा ॥३३॥

धीर मनुष्य सुमधुर वचन द्वारा तथा उत्तम उत्तम कर्मों को सब ओर से एकत्रित करते हैं जैसे शिला बीनने वाला खेत में से शिला (गिरे हुए) अन्न को बीन लेता है।

गन्धेन गावः पश्यन्ति वेदैः पश्यन्ति ब्राह्मणाः ।
चारैः पश्यन्ति राजा नश्च शुर्भ्यामितरे जनाः ॥३४॥

गन्ध से गाय देखती है (पशु सबको प्रथम सूँघ लेता है। इसी से हिताहित जानता है) वेदवक्ता ब्राह्मण ज्ञान (वेदोक्त आज्ञा) से राजा गुप्त दूतों से एवं अन्य लोग नेत्रों से देखते हैं अर्थात् साधन द्वारा सब काम किये जाते हैं।



भूयां सं लभते क्लेशं या गौर्भवति दुर्दुहा ।
अथ या सुदुहा राजन्नैव तां वितुदन्त्यपि ॥ ३५ ॥

हे राजन् ! जो गाय कठिनाई से दुहने देती है, उसे बड़ दुःख मिलाता है अर्थात् लोगों लगाकर दुहाने वाली और जो अच्छे प्रकार दुहलेने देती है उससे कोई युक्ति नहीं की जाती ।

यदतप्तं प्रणमति न तत्संतापयन्त्यपि ।
यच्च स्वयं नतं दारु न तत्सन्नमन्त्यपि ॥ ३६ ॥

जो वस्तु विना तपाये ही लच जावे, उसको कोई नहीं तपाता जैसे स्वयं लची लकड़ी (डाल या टहनी) को कोई लचाने का यत्न नहीं करता ।

एतयोपमया धीरः सन्नमेत बलीयसे ।
* इंद्राय स प्रणमते नमते यो बलीयसे ॥ ३७ ॥

इसी उदाहरण से धीर पुरुष बलवान से नम्र रहें । जो बलवान से नम्र रहता है, वह इन्द्र (ईश्वर) के लिये नमता है ।

पर्जन्यनाथाः पशवो राजानो मंत्रिबांधवाः ।
पतयो बांधवाः स्त्रीणाँ ब्राह्मणा वेदबांधवा ॥ ३८ ॥

---

* गीता में कहा है कि—

यत्तद् विभूति मत्सत्वं अर्थात् जहाँ जहाँ मेरी विभूति है, वहाँ वहाँ उस रूप में " मैं ही हूँ" ईश्वर को वेदों में "बल" बतलाया है, इसीलिये "बलमसि बलं मयि धेहि" प्रार्थना बतलाई है ।



मेघ (पशुओं के लिये घास आदि तृण उत्पन्न करने से) पशुपति कहलाते हैं, मन्त्री राजा के सहायक होते हैं। पति स्त्रियों के प्रेम में बँधे हुये और वेद ब्राह्मणों के सहायक माने गये हैं।

सत्येन रक्ष्यते धर्मो विद्या योगेन रक्ष्यते ।
मृजया रक्ष्यते रूपं कुलं वृत्तेन रक्ष्यते ॥ ३६ ॥

सत्य से धर्म की रक्षा की जाती है। अभ्यास से विद्या की रक्षा होती है.स्नान से रूप की रक्षा होती है और सदाचार से कुल की रक्षा होती है।

मानेन रक्ष्यते धान्यमश्वान् रक्षत्यनुक्रमः ।
अभीक्ष्णदर्शनं गाश्चस्त्रियो रक्ष्याः कुचैलतः॥ ४० ॥

अन्न की तौल (से) घोड़ों को टहलाने (फेरने से) देख रेख से गायों की और कुचैल (मलिन वस्त्र) से स्त्रियों की रक्षा करे।

न कुलं वृत्तहीनस्य प्रमाणमिति मे मतिः ।
अन्त्येष्वपि हि जातानां वृत्तमेव विशिष्यते ॥ ४१ ॥

* मेरी सम्मति में आचरण भ्रष्ट मनुष्य सदाचारी नहीं

---

* जान श्रुत शूद्र कुलोत्पन्न था, परन्तु आचरण-श्रेष्ठता से ब्राह्मण पद के योग्य हुआ और भी अनेक उदाहरण हैं "शुचं द्रवतीतिशूद्रः" जो पवित्रता से गिर जावे वही शूद्र है। यहाँ पवित्रता बड़ा गंभीर आशय रखती है। सदाचरण में आने वाली जितनी पवित्रता हैं, उनसे गिरना 'शूद्रत्व' है। जिसका अन्तःकरण से संबन्ध है, जो बाह्य कारणों द्वारा संस्कार, दोष और अविद्या से प्राप्त होता है।



माना जा सकता, परन्तु अति पवित्रता से भी गिरे हुये कुल में उत्पन्न पुरुष आचरण से ही विशेषता को प्राप्त होता है।

य ईर्षुः परवित्तेषु रूपे वीर्ये कुलान्वये।
सुख सौभाग्य सत्कारे तस्य व्याधिरनंतकः ॥ ४२ ॥

जो अन्य के धनों में, रूप में, कुल में,(परिवार-कुटुम्ब) सुख में, सौभाग्य और प्रतिष्ठा में जलन रखता है। अर्थात् डाह व ईर्षा करता है, उसे अनन्त दुख है अर्थात् उसका चित्त सुखी नहीं रह सकता।

अकार्यकरणाद्भीतः कार्याणां च विवर्जनात्।
अकाले मंत्रभेदाच्च येन माद्येन नत्पिबेत् ॥ ४३ ॥

जिस मद्य से अकर्त्तव्य कर्म के करने से, कर्त्तव्य कर्म के त्यागने से और जो विचार समय से पूर्व (काम होने से पहिले) ही खुल जावे, सब पर प्रकाशित होने की सम्भावना हो, उसे कभी न पीवे अर्थात् इस प्रकार की असावधानता-रूपी शराब न पीवे। असावधानता को मद्य के नशे के समान त्याज्य माना है।

विद्यामदो धनमदस्तृतीयोऽभिजनो मदः।
मदा एतेऽवलिप्तानामेत एव सतां दमाः ॥ ४४ ॥

विद्या मद,धन मद,तीसरा कुटुम्ब-मद यह केवल नीचों (पतितों)के मद हैं,श्रेष्ठों को भी यही तीनों शान्तियाँ हैं अर्थात् उन्हें विद्या, धन और जन का घमंड नहीं होता।



असतोऽभ्यर्थिताः सद्भिःकश्चित्कार्ये कदाचन ।
मन्यंते संतमात्मानमसंतमपि विश्रुतम् ॥ ४५ ॥

सज्जन को कभी दुष्टों से निवेदन जो करना पड़ा तो वह (दुष्ट) अपने को भी सज्जन-कक्षा में मानने लगता है, चाहे वह संसार में दुष्ट करके ही क्यों न प्रसिद्ध रहा आवे।

गतिरात्मवतां संतः संत एव सतां गतिः ।
असतां च गतिः संतो नत्वसंतः सतां गतिः ॥४६॥

साधुजनों आश्रित आत्मवान रहते हैं और साधु (सज्जन) ही उत्तम पुरुषों का ठिकाना है यही किन्तु दुष्ट भी सज्जन (साधुओं) के ही सहारे रहते हैं, परन्तु विपरीत इसके साधु दुष्ट का आश्रय नहीं लेगा।

जिता सभा वस्त्रवता मिष्टाशा गोमता जिता ।
अध्वा जितो यानवता सर्वं शीलवता जितम् ॥४७॥

अच्छे वस्त्रों वाला सभा को, गौ वाला मिष्ट (मीठे) को सवारी वाला मार्ग को जीत लेता है, परन्तु शील वाला पुरुष सब पर विजय प्राप्त करता है।

शीलं प्रधानं पुरुषे तद्यस्येह प्रणश्यति ।
न तस्य जीवितेनार्थो न धनेन न बंधुभिः ॥ ४८ ॥

मनुष्य में शील ही तत्व वस्तु है। जिसका यह गुण नष्ट हो जाता है, न उसके जीवित रहने से लाभ न धन से न कुटुम्बादि से कुछ प्रयोजन सिद्ध होता है अर्थात् शील जीवन का उद्योत लक्षण है।



आत्मनात्मानमन्विच्छेन्मनो बुद्धीन्द्रियैर्यतैः ।
आत्माह्येवात्मनो बंधुरात्मैव रिपुरात्मनः ॥ ६४ ॥

अपने आधीन मन, बुद्धि और इन्द्रियों को करके अपने पर विजय प्राप्त करे, क्यों कि आत्मा ही आत्मा का मित्र और आत्मा ही आत्मा का शत्रु है अर्थात् मनुष्य चाहे तो अपने को मित्र बनाले और चाहे शत्रु। अपने हित और अनहित का विचार नित्य रखना चाहिये।

बंधुरात्मात्मनस्तस्य येनैवात्मात्मना जितः ।
स एव नियतो बंधुः स एव नियतो रिपुः ॥ ६५ ॥

जिसने अपने मन पर विजय प्राप्त करली उस जीव का आपा ही बन्धु है। वह जीता हुआ मन ही निश्चय आत्मा का बन्धु है वही निश्चय उसका शत्रु है। अर्थात् जो मन पर विजय प्राप्त कर लेता है, उसे आत्म विश्वास हो जाता है। यह आत्म विश्वास ही मित्रता है और अविश्वास शत्रुता है।

क्षुद्राक्षेणेव जालेन झषावपिहितावुरू ।
कामश्च राजन्! क्रोधश्च तौ प्रज्ञानं विलुम्पतः ॥६६॥

छोटे२ छेदों वाले जाल से दो बड़ी२ मछली ढँकी हुई हैं। हे राजन्! यह दो मत्स्य (मछली) काम और क्रोध हैं, जो ज्ञानरूपी जाल को तोड़ देती है. अर्थात् काम और क्रोध के आगे ज्ञान नहीं ठहरता।

समवेक्ष्येह धर्माथौं सम्भारान् योऽधिगच्छति ।
स वै संभृतसम्भारः सततं सुखमेधते ॥ ६७ ॥

जिसने धर्म और अर्थ का विचार करके भार (उत्तरदायित्व) किया है, वह निश्चय पूर्वक उत्तरदायित्व वाला मनुष्य सदा सुख की बढ़ोतरी करता है।

यः पंचाभ्यंतरान् शत्रूनविजित्य मनोमयान् ।
जिगीषति रिपूनन्यान् रिपवोऽभिभवन्ति तम् ॥६८॥

जो मनुष्य भीतर की पांच मानसिक वृत्तियों (काम, क्रोध, मद लोभ, मोह) को न जीत कर वाहर के शत्रुओं पर विजय प्राप्त करना चाहता है, उसको शत्रु दबा लेते हैं। अर्थात् जिन्होंने मानसिक विजय प्राप्त की है, उन पर वाहर के शत्रु आक्रमण नहीं कर सकते।

दृश्यंते हि महात्मानो वध्यमानाः स्वकर्मभिः ।
इंद्रियाणामनीशत्वाद्राजानो राज्यविभ्रमैः ॥ ६९ ॥

अपने कर्मों से महात्मा भी बँधे हुये हैं, जैसे इन्द्रियों का स्वामी न होने से राजा राज्य के दोषों से बंधा होता है।

असंत्यागात् पापकृतामपापांस्तुल्यो दण्डःस्पृशते मिश्रभावात्।
शुष्केणार्द्रं दह्यते मिश्रभावात्तस्मात्पापैःसह संधिं न कुर्यात्॥७०

पाप रहित यदि पापियों का साथ न छोड़े तो उस संग दोष से दोनों को दण्ड मिलता है, जैसे सूखे के साथ गीला जलता है। अतः पापियों से मेल न रक्खे।



प्रह्लाद ने कहा—

हे विरोचन ! मुझ से तेरा पिता अङ्गिरा श्रेष्ठ है, सुधन्वा तुमसे श्रेष्ठ है और तुम्हारी माता से इसकी माता [?]ष्ठ है, इसले तुमको सुधन्वा ने जीत लिया।

विरोचन ! सुधन्वायं प्राणानामीश्वरस्तव ।
सुधन्वन ! पुनरिच्छामि त्वया दत्तं विरोचनम् ॥३६।

हे विरोचन ! यह सुधन्वा तुम्हारे प्राणों का स्वामी है, हे सुधन्वा ! विरोचन को तुम फिर लौटा दो (प्राणदान दो)।

सुधन्वोवाच !

यद्धर्मसवृणीयास्त्वं मा कामादनृतांवदीः ।
पुनर्ददामि ते पुत्रं तस्माद् प्रह्लाद ? दुर्लभम् ।३७

सुधन्वा बोला—

हे प्रह्लाद ! धर्म को तुमने पालन किया है, काम के वशीभूत झूँठ न बोला और इस लिये तेरे मिलने योग्य पुत्र के न होते हुए भी उसे लौटाता हूँ अर्थात् प्राण दान देता हूँ।

एव प्रह्लाद ! पुत्रस्ते मया दत्तो विरोचनः ।
पादप्रक्षालनं कुर्यात्कुमार्याः सन्निधौ मम ॥ ३८ ॥

हे प्रह्लाद ! इस तेरे पुत्र विरोचन को मैंने प्राण-दान दे दिया, परन्तु कुमारी (केशिनी) के सम्मुख (समक्ष) मेरे पावों को धोना होगा।

विदुर उवाच—

तस्माद्राजेन्द्र ! भूम्यर्थे नानृतं वक्तुमर्हसि ।
मागमः ससुतामात्यो नाशं पुत्रार्थमनुचन् ॥ ३९ ॥



विदुर कहने लगे—

अतः हे राजेन्द्र धृतराष्ट्र ! पृथ्वी के लिये झूंठ बोलना उचित नहीं। अतः पुत्र के लिये झूंठ बोलने से मन्त्री और पुत्रों सहित विनाश की ओर न जा।

* न देवा दण्डमादाय रक्षन्ति पशुपालवत् ।
यंतु रक्षितु मिच्छन्ति बुद्धया संविभजन्ति तम् ॥४०॥

देवता लोग जैसे पशुओं के पीछे डण्डा लेकर रक्षा को जाते हैं, इस प्रकार रक्षा नहीं करते, किन्तु जिसकी रक्षा उन्हें अभीष्ट होती है, वे उसे शुद्धि बुद्धि प्रदान करते हैं।

यथा यथाहि पुरुषः कल्याणे कुरुते मनः ।
तथा तथास्य सर्वार्थाः सिध्यन्ते नात्र संशयः ॥४१॥

मनुष्य ज्यों २ कल्याण (भला करने) में मन लगाता है, त्यों २ उसके सब कार्य सिद्ध होते हैं, इसमें सन्देह नहीं।

नैनं छंदासि वृजिनात्तारयंति मायाविनं मायया वर्त्तमानम् ।
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाश्छन्दाँस्येनं प्रजहत्यन्तकाले। ४२॥

---

* महात्मा तुलसीदास जी ने इसी भाव को इस प्रकार स्फुटित किया है :—

" काल दण्ड लै काहुन मारा "

यहां काल और देवता पद के परिवर्तन ने भाव में कुछ और ही रोचकता उत्पन्न करदी है। अब बुद्धि के प्रदान और हरण ने पद में एक अनोखा चमत्कार उत्पन्न कर दिया है।



क्षीण हुआ, क्षीण नहीं, किन्तु आचरणहीन नष्ट भ्रष्ट हो जाता है।

गोभिः पशुभिरश्वैश्च कृष्या च सुसमृद्धया।
कुलानि न पुरोहन्तियानि हीनानि वृत्ततः ॥ ३१ ॥

जो कुल आचरण भ्रष्ट हैं वे न गौओं से न अन्य पशुओं से, न घोड़ों से और न भरी-पूरी खेती करने से बढ़ोतरी को प्राप्त हो सकेंगे। अर्थात् आचरण की हीनता मनुष्य को गिरा देती है।

* मा नः कुले वैर कृत्कश्चिदस्तु
राजा मात्यो मा परस्वापहारी।
मित्रद्रोही नैकृष्टतिकोऽनृतीवा
पूर्वाशी वा पितृदेवा तिथिभ्यः ॥ ३२ ॥

हमारे वंश में कोई भी वैर करने वाला राजा, अथवा पराये धन का चुराने वाला मन्त्री, मित्र से वैर मानने वाला, धरोहर का दबा लेने वाला, मिथ्यावादी एवं पितरों [माता पिता वृद्ध जनों] देवों [विद्वानों] और अतिथियों से पूर्व भोजन करने वाला न हो, अर्थात् हम ऐसे को नहीं चाहते।

यश्च नो ब्राह्मणान्हन्याद्यश्च नो ब्राह्मणान्द्विषेत्।
न नः स समितिं गच्छेद्यश्च नो निर्वपेत् कृषिम् ॥ ३३ ॥

---

* पञ्च यज्ञ करके भोजन करने वाले कुल उत्तम कुल हैं।



हम में होकर जो (ब्राह्मण-वध करे और उनसे द्वेष करे, हम में से खेती का नाश (उजाड़) करे वह हमारी (सभा) समाज के योग्य नहीं अर्थात् वह असभ्य है, सभा में स्थान पाने के अयोग्य है।

तृणानि भूमिरुदकं वाक्चतुर्थी च सूनृता ॥
सतामेतानि गेहेषु नोच्छिद्यन्ते कदाचन ॥ ३४ ॥

आसन, स्थान, जल, चौथे प्रिय बोलना यह भले मनुष्यों के घर में कभी कम नहीं होते अर्थात् यह सभ्य शिष्टाचार है, कि आगन्तुक को आसन, (विष्टर = विस्तर देना) स्थान = ठहरने को, जल = मुख मार्जनादि को तथा मिष्ट भाषण से वार्तालाप करना शिष्टता है।

श्रद्धया परमा राजन्नुप नीतानि सत्कृतिम् ।
प्रवृत्तानि महाप्राज्ञ ! धर्मिणा पुण्य कर्मिणाम् ॥ ३५ ॥

हे महा मतिमान राजन् ! यही चारों वस्तुयें पुण्यशील धर्मात्माओं में परम श्रद्धा से सत्कार के लिये विद्यमान रहती हैं। अर्थात् श्रद्धालु धर्मात्मा श्रद्धा से पूर्वोक्त वस्तुओं से सत्कार करते हैं।

जो अकारण क्रोध करे, अकारण ही प्रसन्न हो जावे यह दुष्टों के स्वभाव हैं जैसे तितर-बितर हो जाने वाले मेघ अर्थात् उनका एकसा स्वभाव = स्नेह नहीं रहता।

सत्कृताश्च कृतार्थाश्च मित्राणां न भवंति ये।
तान्मृतानपि क्रव्यादाः कृतघ्नान्नोपभुञ्जते॥ ४२॥

जिनका मित्रों से सत्कार नहीं होता और उनका भला नहीं होता, उन कृतघ्नों के शव (लाश) को मांसाहारी जीव भी नहीं खाते।

× अर्चयेदेव मित्राणि सति वाऽसति वाध ने।
नानर्थयन् प्रजानाति मित्राणां सारफल्गुताम् ॥४३॥

धन हो अथवा न हो, मित्रों का सत्कार करना ही चाहिये। विना व्यय किये मित्रों की मित्रता का पता नहीं लगता।

सन्तापाद्भ्रश्यते रूपं सन्तापाद्भ्रश्यते बलम्।
सन्तापाद्भ्रश्यते ज्ञानं सन्तापाद्व्याधिमृच्छति॥४४॥

चिन्ता से रूप नष्ट हो जाता है, शोक से बल कम होजाता है, चिन्ता से ज्ञान नष्ट हो जाता है और शोक करने वाले को रोग घेर लेता है।

× देत लेत मन शंक न धरहीं, बल अनुमान सदा हित करहीं।
विपति काल करि सतगुन नेहा, श्रुतिकहिं सन्त मित्र गुण एहा॥
[तुलसीदास जी]



अनवाप्यं च शोकेन शरीरं चोपतप्यते ।
अमित्राश्च प्रहृष्यंति मास्म शोके मनः कृथाः ॥४५॥

चिन्ता से कुछ मिलता नहीं, केवल चित्त (शरीर) को दुख होता है इससे शत्रु प्रसन्न होते हैं । अतः शोक में मन को न लगावे ।

पुनर्नरो म्रियते जायते च पुनर्नरो हीयते वर्धते च ।
पुनर्नरो याचति याच्यते च पुनर्नरः शोचति शोच्यते च ४६

मनुष्य मरता है और उत्पन्न होता है वह वार २ घटता और बढ़ता है उसे वार २ मांगना पड़ता है अथवा उससे मांगा जाता है । इसी प्रकार वारंवार ही उसे शोक (चिंता) करनी पड़ती है अथवा चिन्तायुक्त कराया जाता है अर्थात् यह संसार का क्रम ही ऐसा है ।

+ सुखं च दुःखं च भवाभवौ च
लाभा लाभौ मरणं जीवितं च ।
पर्यायशः सर्वमेते स्पृशन्ति
तस्माद्धीरो न च हृष्येन्न शोचेत् ॥ ४७ ॥

+ इस श्लोक में "भवा भवौ" पद का अर्थ बहुधा टीकाकारों ने जन्म और मृत्यु किया है, परन्तु यह असमीचीन इस लिये है कि "मरणं जीवितं" पद स्वयं इसी श्लोक में विद्यमान है । अतः पुनरुक्ति दोष आता है ।



पुराह्युक्तं नाकरोस्त्वं वचो मेद्यूते जितां द्रौपदीं प्रेक्ष्यराजन्।
दुर्योधनं वारयेत्यक्षवत्यां कितवत्वं पण्डिता वर्जयन्ति ॥७०॥

मैं यह पूर्व ही कह चुका हूँ कि जुये में जीती हुई द्रौपदी को देखकर फांसा डालने में दुर्योधन को रोकना चाहिये, हे राजन्! पण्डित जन छल (जुये) को रोकते हैं।

न तद्बलं यन्मृदुना विरुध्यते सूक्ष्मो धर्मस्तरसा सेवितव्यः।
प्रध्वंसिनी क्रूर समाहिता श्रीर्मृदुप्रौढा गच्छति पुत्रपौत्रान्॥

नम्र से विरोध करना बल नहीं कहलाता, धर्म सूक्ष्म है उसका पालन तुरन्त करना चाहिये। दुष्ट का संचित धन शीघ्र ही नाश हो जाता है और भले मनुष्यों का संग्रहीत उनके पुत्र पौत्रों (नाती पन्ती) तक बना रहता है।

धार्तराष्ट्राःपाण्डवान्पालयन्तु पाण्डोःसुतास्तवपुत्रांश्च पान्तु।
एकारिमित्राःकुरवो ह्येककार्या जीवन्तु राजन्सुखिनः समृद्धाः॥

धृतराष्ट्र के पुत्र पाण्डवों की और पाण्डु के पुत्र तुम्हारे पुत्रों की रक्षा करें। हे राजन्! समस्त कुरु एक शत्रु-मित्र वाले और एक ही उद्देश वाले होकर सुख-समृद्धशाली होकर जीवें। अर्थात् इतने मिल कर रहें कि एक दूसरे के शत्रु मित्र को देखें।

मेढीभूतः कौरवाणां त्वमद्य त्वय्याधीनं कुरुकुलमाजमीढ!।
पार्थान्बालान्वनवासप्रतप्तान् गोपायस्व स्वं यशस्तात! रक्षन्॥

ऐ अजमीढ वंशीय धृतराष्ट्र! तुम कुरु कुल की सीमा हो। कुरु-कुल आज तुम्हारे आधीन हैं। हे नाथ! बालक पांडव

जो वनवास से दुखित हैं रक्षा करो और अपना यश चिरं-जीव करो।

सन्धत्स्व त्वं कुरोव ! पाण्डुपुत्रैर्मा तेऽन्तरं रिपवः प्रार्थयन्तु।
सत्ये स्थितास्ते नरदेव ! सर्वे दुर्योधनं स्थापय त्वं नरेन्द्र ॥

हे कुरुवंशी राजेन्द्र ! तुम पाण्डवों से सन्धि करलो। जिसमें तुम्हारे शत्रुओं को अवसर न मिले, क्यों कि वे सब सत्य पर स्थित हैं तुम दुर्योधन को सम्हाल लो।

इति श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षित कृते,
श्री महाभारते उद्योगपर्वणि प्रजागर विदुर हित वाक्ये,
भाषानुवादे चतुर्थोऽध्यायः।

अथ पंचमोऽध्यायः।

विदुर उवाच—

सप्तदशेमान् राजेन्द्र मनुः स्वायम्भुवोऽब्रवीत।
वैचित्रवीर्य ! पुरुषानाकाशं मुष्टिभिर्नतः ॥१॥

विदुरजी ने कहा—

हे राजा विचित्रवीर्य के पुत्र धृतराष्ट्र ! स्वायम्भुव मनु ने सत्रह मनुष्यों को व्यर्थ पुरुषार्थवादी कहा है।



दुख से पालित मृत पुत्र को मनुष्य लोग उठाकर अपने घर से बाहर फेंक आते हैं उसके लिये खुले बाल दुःखित हो रोते हैं और लड़की ईंधन की तुल्य चिता में फेंक देते हैं।

अन्यो धनं प्रेतगतस्य भुङ्क्ते वयांसि चाग्निश्च शरीरधातून्।
द्वाभ्यामयं सह गच्छत्यमुत्र पुण्येन पापेन च वेष्टयमानः ॥

उस मृतक के धन को अन्य भोगते हैं, उसके शरीर और धातुओं को पक्षी तथा अग्नि भोगता है, केवल यह (जीव) पुण्य और पाप से लिपटा हुआ जाता है।

उत्सृज्य विनिवर्तन्ते ज्ञातयः सुहृदः सुताः।
अपुष्पानफलान्वृक्षान् यथा तात! पतत्रिणः ॥१७॥

हे तात! भाई, मित्र, पुत्र सब इस प्रकार छोड़कर लौट आते हैं। पुष्प और फल रहित वृक्षों को पक्षी छोड़ देते हैं।

अग्नौ प्रास्तं तु पुरुषं कर्मान्वेति स्वयङ्कृतम्।
तस्मात्तु पुरुषो यत्नाद्धर्मं सञ्चिनुयाच्छनैः ॥१८॥

अग्नि में फेंके उस पुरुष का अपना किया कर्म साथ जाता है इसीलिये मनुष्यको धीरे२ धर्म संग्रह करना चाहिये।

अस्माल्लोकादूर्ध्वममुष्य चाधो महत्तमस्तिष्ठति ह्यन्धकारम्
तद्वै महामोहनमिन्द्रियाणां बुध्यस्व मा त्वां प्रलभेत राजन्

हे राजन्! इस लोक से उत्तर और इसके नीचे निविड़ अन्धकार है, वह इन्द्रियों का बड़ा अचेत (असावधान) करने वाला है, इसे समझो कि जिससे वह अन्धकार तम्हें न पकड़े।



इद वचः शक्ष्यसि चेद्यथावन्निशम्य सर्वं प्रतिपत्तुमेव ।
यशः परं प्राप्स्यसि जीवलोके भयं न चामुत्र न चेह तेऽस्ति ॥

यदि तुम इस वचन को ज्यों का त्यों सुनकर यथानुकूल करने में समर्थ होंगे तो संसार में महान् यश होगा और लोक तथा परलोक में अभय हो जाओगे

आत्मा नदी भारत! पुण्यतीर्था सत्योदका धृतिकूला दयोर्मिः
तस्यां स्नातः पूयते पुण्यकर्मा पुण्यो ह्यात्मा नित्यमलोभ एव

हे भारत ! यह आत्मा मानो एक नदी है इसके पुण्य घाट हैं इसमें सचाई का जल है धीरज ही किनारे हैं, दया की लहरें हैं, पुण्यशील प्राणी उक्त (आत्मा नदी) में स्नान कर पवित्र होता है और यह आत्मा पवित्र जानो कि जिसमें लोभ न हो।

कामक्रोधग्राहवतीं पञ्चेन्द्रियजलां नदीम् ।
नावं धृतिमयीं कृत्वा जन्मदुर्गाणि सन्तर ॥२२॥

काम और क्रोध ही मानो इसमें मगर मच्छ हैं, इस पाँच इन्द्रियरूपी जलनद को धैर्य्य की नाव बना कर जन्मरूपी गहरे जल से पार हो जाओ ।

प्रज्ञावृद्धं धर्मवृद्धं स्वबन्धुं विद्यावृद्धं वयसा चापि वृद्धम् ।
कार्याकार्ये पूजयित्वा प्रसाद्य यः सपृच्छेन्न स मुह्येत्कदाचित्

जो बुद्धि में बड़े, धर्म में बड़े विद्या में बड़े और अवस्था में भी बड़े, अपने भाई को कार्य तथा अकार्य में



सत्कारपूर्वक प्रसन्न करके अच्छे प्रकार सम्मति लेता है, वह कभी भूल नहीं करता।

धृत्या शिश्नोदरं रक्षेत्पाणिपादं च चक्षुषा।
चक्षुः श्रोत्रे च मनसा मनो वाचं च कर्मणा ॥२४॥

उपस्थ और उदर को धैर्य से, हाथ पाँव को आँख से, आँख कान को मन से और मन वाणी को कर्म से बचावे।

नित्योदकी नित्य यज्ञोपवीती नित्यस्वाध्यायी पतितान्न वर्जी
सत्यंब्रुवन्गुरवे कर्म कुर्वन्न ब्राह्मणश्च्यवते ब्रह्मलोकात् ॥२५॥

शरीर को सदा जल से धोने वाला, सदा जनेऊ धारण करने वाला, वेद का पाठ करने वाला, निकृष्ट अन्न को न लेने वाला, सत्यवादी, गुरू के लिये काम करने वाला, ब्राह्मण ब्रह्मलोक (ब्रह्म मर्यादा) से पतित नहीं होता।

अधीत्य वेदान्परिसंस्तीर्यचाग्नीनिष्ट्वा यज्ञैः पालयित्वाप्रजाश्च
गोब्राह्मणार्थंशस्त्र पूतान्तरात्मा हतःसंग्रामे क्षत्रियः स्वर्गमेति

वेदों को पढ़, अग्नि-आधान कर, यज्ञों से देव-यजन कर और प्रजाओं का पालन करता हुआ शस्त्र-द्वारा गो-ब्राह्मण की रक्षा के लिये जिसका अन्तरात्मा पवित्र है, वह संग्राम में मारा गया क्षत्रिय स्वर्ग को प्राप्त होता है।

वैश्योऽधीत्य ब्राह्मणान्क्षत्रियांश्च धनैःकालेसंविभज्याश्रितांश्च।
त्रेतापूतं धूममाघ्राय पुण्यं प्रेत्य स्वर्गे दिव्यसुखानि भुङ्क्ते ॥



वैश्य वेद पढ़ कर ब्राह्मणों और क्षत्रियों तथा आश्रितों को आवश्यकता पड़ने पर धन द्वारा सत्कार करे और तीन पुँओं को (आहवनीय, गार्हपत्य तथा दक्षिणाग्नि) सूँघता हुआ (यह यज्ञ करता हुआ) मृत्यु प्राप्त होने पर स्वर्ग में दिव्य सुख को भोगता है।

ब्रह्म क्षत्रं वैश्यवर्णं च शूद्रः क्रमेणैतान्न्यायतः पूजयानः ।
तुष्टेष्वेतेष्वव्यथो दग्धपापस्त्यक्त्वा देहं स्वर्गसुखानि भुङ्क्ते

जो शूद्र क्रमपूर्वक ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य की न्याय पूर्वक परिचर्या करता है, वह इन (ब्राह्मणादि) को परितोषित करने पर दुःख रहित पाप से मुक्त देह त्यागन करने पर स्वर्ग के सुखों को भोगता है।

चातुर्वर्ण्यस्यैष धर्मस्तवोक्तो हेतुं चात्रानुब्रुवतो मे निबोध ।
क्षात्राद्धर्माद्धीयते पाण्डुपुत्रस्तं त्वं राजन् ! राजधर्मे नियुङ्क्ष्व

यह चारों वर्णों का धर्म मैंने तुमसे कहा इसका यह कारण है कि पाण्डु का पुत्र (युधिष्ठिर) क्षत्रियों के कर्म से गिरा जाता है, हे राजन् ! तुम उसको राज-धर्म में लगाओ।

धृतराष्ट्र उवाच—

एवमेतद्यथा त्वं मामनुशाससि नित्यदा ।
ममापि च मतिः सौम्य ! भवत्येवं यथात्थ माम् ॥३०

धृतराष्ट्र ने कहा--

यह सत्य है जैसा कि मुझे तुमने समझाया है, हे सौम्य विदुर ! मेरी भी समझ में ऐसा ही है जैसा कि तुमने कहा है।



सा तु बुद्धिः कृताप्येवं पाण्डवान्प्रति मे सदा।
दुर्योधनं समासाद्य पुनर्विपरिवर्तते ॥ ३१ ॥

परन्तु वह ज्ञान, पाण्डवों के प्रति मेरा दुर्योधन के समीप जाने पर फिर विपरीत हो जाता है।

न दिष्टमभ्यतिक्रान्तुं शक्यं भूतेन केनचित्।
दिष्टमेव ध्रुवं मन्ये पौरुषं तु निरर्थकम् ॥३२॥

कोई प्राणी प्रारब्ध को नहीं लाँघ सकता, मैं प्रारब्ध (होनी) को अटल मानता हूं। अर्थात् (बोल अटल छत्र की जय) पुरुषार्थ तो व्यर्थ ही है।

ऊन विंश, पै बानवे, क्वार शारदी वार।
जन पद हित की कामना, कियो नीति विस्तार ॥
ऊन विंशनौ वेद में, सित आश्विन रविवार।
तिथि छट को शोधन करी, पुनर्प्रचार विचार ॥

इति इटावा प्रान्तर्गत लखना ग्राम्य वास्तव,
श्री पं० चन्द्रिकाप्रसादात्मज सिद्धान्तवाचस्पति,
श्री पं० गोकुलचन्द्र दीक्षितकृते, श्री महाभारते, उद्योग पर्वणि
प्रजागर पर्वणि विदुर हित वाक्ये, भाषा टीकायां
अष्टमोऽध्यायः पूर्तिमगात् ॥ शुभम् भूयात् ॥

